

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ९५ वाँ ग्रन्थ

जैनेन्द्रके विचार

[श्रीजैनेन्द्रकुमारके लेखों, निबन्धों, व्याख्यानों,
प्रश्नोत्तरो और पत्रांशोंका संग्रह]



सम्पादक

श्री प्रभाकर माचवे

एम० ए०, साहित्यरत्न



प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
ह्रीरावाग-बम्बई

दिसम्बर, १९३७
मूल्य त्रिंश रुपया

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६ केलेवाडी, गिरगाव, बम्बई ४

वक्तव्य

इस किताबके नामसे शंका होती है कि जैनेन्द्र कोई व्यक्ति होगा जो अपना जीना जी चुका है। मिट्टी उसकी ठंडी हुई। बस, अब उसको लेकर जाँच-पड़ताल और काट-फाँस होगी। पाठक निराश तो कदाचित् हों, पर सच यह है कि अभी वह समाचार सच नहीं है। जैनेन्द्रके मरनेकी खबर अभी मुझको भा नहीं मिली। पाठकको मुझसे पहले वह सूचना नहीं मिलेगी। इसमें आग्रह व्यर्थ है। फिर भी, उसके जीते जी यह जो उसकी इधर-उधरकी बातोंको आंकने और भेदनेका यत्न है, यह क्या है ? ठीक मालूम नहीं, पर यह ज्यादाती तो है ही। इस कर्मका मूल्य भी अनिश्चित है ! बहते पानीकी नाप-जोख पक्की नहीं उतरेगी। उसके बँध रहनेकी प्रतीक्षा उचित है। फिर भी आदमी है कि चैनसे नहीं बैठता। जीवन-मुक्तिके निमित्त उसके नियम पाना और बनाना चाहता है, और उस निमित्त उसी जीवनको घेरोंसे बाँधता-कसता है। यह मानव-पद्धति विचित्र है, पर अनिवार्य भी है। तो क्या किया जाय ? उपाय यही है कि अपने ऊपरकी शल्य-क्रियाको सहते चला जाय। उपयुक्त असलमें यह है कि आदमीके मरनेपर उसके बारेमें कुछ लिखा जाय।

मनोविज्ञानिकके लिए जो बातें पहली बन प्रस्तुत होती हैं, उन्हें जैनेन्द्र जैसे कलाकार किस सहजताके साथ सुलझा डालते हैं, इसके प्रमाण-रूप कई लेख इस संग्रहमें हैं। एक लेखनुमा कहानी, 'कहानी नहीं,' ही ले लें। स्वयं कथनके (=Monologue) रूपमें अमीरके मनका चोर किस मजेसे पकड़ा गया है ! जैनेन्द्र जहाँ आलोचक होकर प्रस्तुत होते हैं, वहाँ भी ध्यान देनेकी बात यह है कि वे अपनेभेके कलाकारको नहीं खोते। 'प्रेमचन्दजीकी कला,' 'रामकथा,' अथवा नेहरूजीके आत्मचरितपर लिखे गये लेख इसी कलात्मक आलोचना शैलीके मनोहर प्रमाण हैं। वस्तुतः आलोचनाका आदर्श भी वही है जहाँ आलोचक मनके रसको नहीं खो देता, जहाँ वह एक-मात्र बुद्धिवादी बनकर विश्लेषणको ही प्रधान और अन्तिम कर्तव्य नहीं मान बैठता। आलोचनामें भी क्यों न आत्म-रस-दान ही प्रधान हो ? इसी विचारको जैनेन्द्रने अपनी प्रमुख दृष्टि मानकर सदा सामने रक्खा है। (४९-६४)

ऊपर जो कहा गया है कि जैनेन्द्र निरी बुद्धिसे अधिक सर्वस्पर्शी-भाव-भूमिको अपनाते हैं, उसका अर्थ विवेकशासित भावनाओके अर्थमें लेना अधिक युक्त होगा। क्योंकि वैसी निरी भावनाके शिकार बननेमें वे सुख नहीं लेते, वह तो पुनः एक अन्धस्थिति है। परन्तु प्रेमकी भावनाको या कहो सर्वव्यापी सहानुभूतिको ही जैनेन्द्रने जैसे अपने भीतर रमा लिया है। इसीसे वे उस उन्नत शालीनताके साथ अश्लीलताके भौतिक प्रश्नको छूते दीखते हैं (पृ० ४९) कि जिससे दुश्चरित्रा ठहराई हुई और यहूदियोंद्वारा पत्थर फेककर सताई गई स्त्रीपर ईसाके करुणा-द्रवित होनेकी, मदरासमें वेइयाओके सम्मुख गाँधीजीद्वारा दिये गये करुणा रंजित ममतापूर्ण भाषणकी, अथवा बुद्ध और सुजाताकी कथाये आँखोंके सामने आ खड़ी होती हैं। सच्चा कलाकार इसी अन्तिम सत्यकी अलोकिक भूमिपर खड़े होकर, लौकिक सुन्दर-असुन्दरके भेद-अन्तरको आँखोंके सामने बिलमते-बुझते देखता है। अरे, सत्यकी महादर्शिनी आँखोंके आगे ये भेद-भाव कहाँ बचे रहते हैं ? दुर्बल मानव-मन-निर्मित मूल्य-भेद जहाँ जाकर एकमेक हो जाते हैं उसीको आध्यात्मिक या आधिदैविक दृष्टिकोण कहते हैं।

आधिभौतिक आचार या नीति-अनीतिके रूढ़ बंधनोंकी कीमत कूतनेवाले शास्त्र (=एथिक्स) की समस्यायें भी इसी तरह जैनेन्द्रके लिए बहुत कम कठिन रह जाती हैं। जैनेन्द्र क्या, प्रत्येक सुबुद्ध लेखक अपनी काल-परिस्थितिकी

मर्यादाओंसे बाहर जाकर बात करता है; वह एक प्रकारका निर्लिप्त फकीर और द्रष्टा ही होता है। (पृ० १७) इस दृष्टिसे उसका उत्तरदायित्व कम नहीं होता। उसे अपने समाजकी स्थितिको अपने साथ आगे बढ़ा ले जाना होता है; अर्थात्, उसे कीमते बदलनी होती हैं। अब कीमते बदलनेके दो तरीके हैं। एक तो वह है जो आधी-सा है, जिसे 'क्रान्ति' कहते हैं; दूसरा वह जिसमें लोगोको किसी भी तरह खदेड़ा, कुचला या अप्रेमसे अपनी भूमिपर ज़बर्दस्ती (यानी हिंसाको जगह देकर भी) खींचा नहीं जाता, बल्कि प्रेम और समझावेसे त्याग और भलेपनकी अहानिकर और अहिंसक तथा नम्र और विनीतपद्धतिसे मनवाया जाता है। क्योंकि जहाँ दृढ़ हृदय झुकता है, वहाँ उस झुकनेके द्वारा क्या उतनी ही दृढ़ताके साथ वह औरोंके हृदयको भी नहीं झुकाता ? परन्तु जरूरत सिर्फ इतनी ही होती है कि वह दृढ़ हृदय इतना प्रेमसे लबालब, कृपासे ओत-प्रोत, इतना अलग एवं ध्येय-मय-विरागपूर्ण हो कि जिसमें राग-द्वेषको पास फटकनेका अवसर तक न मिले। यही कठिन और कष्टसे भरी दूसरी राह जैनेन्द्रने अपने लिए चुनी है। उनका मूल्यान्तरीकरण (=transvaluation) नीन्दोके समान दुर्द्धर्ष विद्रोह, हिंसा, और जिघासापर नहीं खड़ा है। जहाँ जमाना क्रान्तिके नशेमें कोरे पराये शब्दोंके पीछे अपनेको खोनेको तुला है, वहाँ जैनेन्द्रकी यह निष्कपट निष्ठा सराहनीय ही नहीं वरञ्च महत्त्वशाली है। इस दृष्टिसे 'प्रगति क्या' यह एक पढ़नेकी चीज़ है।

जैनेन्द्रके विचार-लोकपर वंदनीय गान्धीजीके सिद्धान्तोंका गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहकी सिद्धान्तत्रयीको जैनेन्द्रने भी जैसे आधारके तौरपर पूरी तरह अपना लिया है। इसकी इष्टानिष्टतापर तर्क करना स्थल और विषयकी दृष्टिसे यहाँ अपेक्षित नहीं।

मिसालके लिए कर्मसंबंधी महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही ले ले। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके समान उनके द्रव्यानुयोगमें विभेद नहीं और न वे जीनो या पारमिनाइडसके समान सर्व-स्थिति-मय किंवा हेराक्लाइटसकी तरह सर्वगतमय ही होकर किसी वस्तुके अर्थ सत्यको पकड़कर ही चलते हैं। यहाँ जैनेन्द्रकी 'एक कैदी' कहानीके कुछ वाक्य देनेसे स्पष्टीकरण होगा; " सत्य स्थिर है, धिरा नहीं है, न अनुशासनसे परिवर्द्ध। काल भी सत्य ही है; काल जो बनने और मिटनेका

आधेय है। अतः स्थिरता सिद्धि नहीं, गति भी आवश्यक है। जीवन अस्तित्वसे अधिक कर्म है।” अब इसी कर्म-प्रश्नको जिस तरह गीतासे ‘स्वभावस्तु प्रवर्तते’ कहा गया है, जैनेन्द्र भी ‘आप क्या करते हैं’ जैसे बाह्यतः बुद्धूषणसंभरे दीखनेवाले निबन्धमें, इस मजेदार सरलतासे प्रतिपादित कर डालते हैं कि देखते ही बनता है। किसी इन्डियोरन्स एजेंटके आग्रहसे चिढ़कर ही जैनेन्द्रने इस लेखकी सृष्टि कर डाली थी, वैसे तो, आचार-शास्त्रसंबंधी कई प्रश्नोंका समाधान मेरे द्वारा किये गये विविध प्रश्नोंकी उत्तरावलीमें, जो पुस्तकके पीछे दी है, मिल जाता है। तो भी ‘व्यवसायका सत्य’ ‘उपयोगिता’ ‘भेदाभेद,’ आदि लेख भी इसी दृष्टिसे पढ़े जाने योग्य हैं। यहाँ एक मार्केकी बात है कि जैनेन्द्र कभी सामान्य समझ (Common sense) की भूमि नहीं छोड़ते। वह जैन मुनियोंका सा कर्म-संवर और कर्मनिर्जरका असभाव्य उपदेश नहीं देते। जो भी हो, अपरिग्रहको वे एक राष्ट्रीय आवश्यकता समझते हैं।

अब आइए जैनेन्द्रके उस प्रिय लोकमें जहाँ उनको बारम्बार उड़ उड़ जाना भाता है। पुस्तक-समीक्षा तकमें जो अध्यात्म-भूमि उनसे नहीं छूटती, उसीके विषयमें कुछ कहें। क्या वहाँ कुछ भी कहना चलेगा? शब्द भी वहाँ बन्धन हैं। ‘मानवका सत्य,’ ‘सत्य, शिव, सुन्दर,’ ‘कला किसके लिए,’ मुझे भेजे ‘पत्राञ्ज’ ‘दूर और पास,’ ‘निरा अबुद्धिवाद’ आदि इसी दृष्टिसे लिखे गये सुन्दर निबन्ध हैं। जैनेन्द्रकी, जीव, द्रव्य, आत्मवरेण्यसंबंधी विचारावलीपर जैनधर्मकी छाया उतनी नहीं जितना वेदान्तका प्रभाव है। उसे पूर्णतः वेदान्त भी कहना गलत होगा। वह तो एक तरहसे सर्वसाधारणका लोक-धर्म है। वे ‘अनुभव’ में विश्वास करते हैं। श्रद्धाके एकमेव साधन होनेकी बात भी स्वीकार करते हैं। संसारके आदि और अन्तकी बात साधारण जनको ज्यादा उपयोगी नहीं, और ऐसी अलिप्त और विच्छिन्न एवं वादग्रस्त समस्याओंमें वे नहीं पड़ते। कुछ तर्क-प्रधानता अपने ‘एक पत्र’ में उन्होंने अवश्य अंगीकृत की थी। परन्तु, वैसे उनकी साधारण विचार-भूमि व्यावहारिक वेदान्तकी अथवा आवश्यकीय साधारण समझदारीकी है। रीड आदि स्कॉटिश दार्शनिकोंके समान उन्होंने Common sense को ही पुनरुज्जीवित, स्पष्ट और अभिव्यक्त किया है। इसीसे मैं जैनेन्द्रके विचारोंमें जनताके साथ कई दशाब्दियोंतक टिके रहनेकी क्षमता पाता हूँ।

दीजिए कि हमारे साहित्याकाशमें हिन्दीके भविष्योज्ज्वल सुवर्ण-कालके प्रभात-तारे श्रुतिमान होने लगे हैं। जैनेन्द्र उनमें शुक्र हैं। ये सब उस आनेवाले भाग्योदयके सूचक मंगल-चिह्न हैं। हिन्दी माताके सौभाग्यालंकारको अब हमे समझने और जाननेके लिए अधिक समय लगाना अज्ञान नहीं, पाप माना जायगा। हिन्दी गद्य अब पुरातन परिपाटीकी सीमासे बाहर आकर निखरने लगा है, अपने पैरोपर खड़े रहनेका पर्याप्त मौलिक मनोबल उसमें अब आने लगा है और अब उसे आवश्यकता नहीं रही है कि बंगला या अंग्रेजीकी जूठनसे ही संतुष्ट रहे। उसपर युगकी चोट पड़ी है और उसे प्रस्तुत और प्रबुद्ध होकर उस युगको प्रति-चोट देने जितनी क्षमता अपने बाहुओंमें पाना है।

हिन्दी लेखक उस क्षमताको विचार सूक्ष्मता, संकल्पकी दृढता, निरर्थकके मोहका परित्याग, भाषाके संबन्धमें उदारता, आत्म-विश्वास और आत्म-सामर्थ्य-द्वारा ही विकसित कर सकता है। जैनेन्द्रमें इनमेंसे बहुत-सी चीजोंके बीज हैं। और मेरी इस भूमिकासे यह कदापि न समझना होगा कि मेरा कथन जैनेन्द्रपर अन्तिम वाक्य है। लेनिनने कहा है, 'अन्तिम कुछ नहीं है' और जीवित लेखक चिर-वर्धमान होता है। उसपर जो कुछ हम कहे वह भी qualified अर्थोंमें ही लेना चाहिए, क्योंकि साहित्यकार और सतिप्रवाह एकसे हैं।

कुछ स्व-गत

नदीका एक नाम है वेगवती। बहना उसके स्वभावमें है। चट्टानें राहमें आवें, पर वह रुकावटपर नहीं रुकती। वह अपने आप अपने ही समग्र जीवन-सामर्थ्यके साथ, अपनी दिशा खोज लेती है,—उसमें समुद्रके विराट् हृदयके साथ एकीकरण पानेकी तीव्र लगन रहती है। वह अपनी शैल-गुहासे ममताका नाता तोड़कर, पूरी गति और हार्दिकताके साथ सिर्फ बढ़ते जाना ही जानती है। राहमें धूप और छायाकी बुनी जाली उसे ढाँकती-खोलती, ककड़-पत्थरके बिलौने और निर्झर-बधु उसका आमंत्रण करते, कटीली झाड़ियाँ उसकी धाराकी बाधा बन आती और बालूकी अपार शोषकता उसके सम्मुख विस्तृत उपेक्षा बनकर फैली रहती है। तो भी नदी नदी है। नहीं है उसे परवाह इन दुनिया-भरके बन्धनोंकी। वह तो निःश्रेयसकी साधिका बनी उसी आकूल महासागरकी ओर बस प्रवहमान, गतिशील है।

चिन्तक कलाकारके मुक्त विचार भी ठीक ऐसे ही होते हैं। वे सत्योन्मुख अभेदानुभूतिकी चिरन्तन-लालसासे अनुप्राणित, सर्जीव-सहज, निर्बन्ध-अखंड, सहिष्णु-उदार और वेगात्मक होते हैं।

ऊपरा ऊपरी दर्शक नदीका एक खंड देखकर कहता है, 'ओह, कितना तरंग ताड़व, कितना अनियमित बिखरा-बिखरापन, जिसमें कोई एक सूत्रता ही न दीखे !' पर वह भूलता है। थोड़ी-सी विचारपूर्वकताके साथ वह देखे तो पाये कि 'अरे, इसका प्राकृतिक प्रवेग तो देखो, इसकी सरल-सहज सत्यप्रियता तो देखो ! इसकी लक्ष्योन्मुखी कातरता ही क्या इसके प्राणोंका सुसूत्र अर्थ नहीं ! अरे, इसका नदीपन ही तो इसके अस्तित्वका नियम है ! यह लहरी-नृत्य नहीं, यह जीवन-मथन है।'

जो मुक्त-विचार जीवनकी कीमत देकर पहिचाने जाते हैं उनकी ट्रेजेडी यही है कि उन्हें कोई नहीं पहिचानता। वे अपरिचित,—अनएश्यूमिंग रहकर ही सुख पाते हैं। उनकी अपार आर्द्रता, उनका विश्व-वेदनाके साथ हृदयगुन्थन क्वचित् ही मर्मराकुल होता है। अधिकतर वह नीरव रहता है। वे ऊर्ध्वगामी, निरन्तर मूक, आत्माकी व्यथा-गोदसे उठनेवाली, प्रश्न और विस्मय-चिह्नांकित पुकारे हैं।

और दुनिया जब इस पशोपेशमें ही पड़ी रहती है कि कोई समझे, हम तो नहीं समझते, तभी मेरे जैसा कोई अल्प-कौशल दृश्याकनकार (=Landscape-painter) उस विचार-नदीके किनारो-किनारोपर पर्यटन करके किसी एक खंडको लेकर प्रयास करने बैठ जाता है कि जिसमें नदीकी पूरी आत्माकी झलक वह अपने छोटेसे चित्र-खंडमें प्रस्तुत कर दे। उसमें वह अपने दृष्टि-कोणको शक्यतः विस्तृत और तटस्थ बनाकर नदी और नदीके आकाश-वातासको खींच लानेका प्रयत्न करता है।

जैनेन्द्रके इस लेख-संग्रहकी भूमिका लिखते समय मुझे अपनी ओरसे इतनी-सी ही कैफियत कहे या विश्वासि, दे देनी है।

ऊपर सहजको समझानेका और निरभ्र आकाशकी अपार नीलम गहराईमें रंगच्छटाये खोजनेका किंवा नदीके तरंग-भेदमें परिव्याप्त एकमेव 'जीवन-भेद' को चीहनेका असाध्य कर्म मैंने किया है।

इस प्रथम प्रयासमें मैंने, हो सकता है, गलतियाँ भी की हों। कई भूलें भी

होता है तभी आदमीमें कड़र अन्धता (=Dogma) आती है और उसका विकास रुक जाता है ।

इस तरह, एक परिभाषा बनायें और उससे काम निकालकर सदा दूसरी बनानेको तैयार रहें । यह प्रगतिशील जीवनका लक्षण है और प्रगतिशील, अनुभूतिशील जीवनका लिपिबद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है । इसीको यो कहें कि मनुष्यका और मनुष्य-जातिका भाषाबद्ध या अक्षर-व्यक्त ज्ञान साहित्य है ।

प्राणीमें नव बोधका उदय हुआ तभी उसमें यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि 'यह मैं हूँ' और 'यह शेष सब दुनिया है ।' यह दुनिया बहुत बड़ी है,—इसका आर-पार नहीं है, और मैं अकेला हूँ । यह अनन्त है, मैं सीमित हूँ,—क्षुद्र हूँ । सूरज धूप फेकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे बहा ले जायगा और डुबा देगा, ये जानवर चारों ओर 'खाऊँ खाऊँ' कर रहे हैं, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर, मैं भी हूँ, और जीना चाहता हूँ ।

बोधोदयके साथ ही प्राणीने शेष विश्वके प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रहकी वृत्ति अपनेमें अनुभव की,—इससे टक्कर लेकर मैं जीऊँगा, इसको मारकर खा लूँगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है; यह और भी जो कुछ है, मेरे जीवनको पुष्ट करेगा ।

बोधके साथ एक वृत्ति भी मनुष्यमें जागी । वह थी 'अहंकार' । किन्तु 'अहंकार' अपनेमें ही टिक नहीं सकता । अहंकार भी एक सम्बन्ध है जो क्षुद्रने विराटके प्रति स्थापित किया । विराटके अवबोधसे क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्रने कहा, 'ओह, मैं 'मैं' हूँ, और यह सब मेरे लिए है ।'

साहित्य क्या है ?

इसी ढंगसे जुद्धने अपना जीवन सम्भव बनाया ।

किन्तु, जीवनकी इस सम्भावनामें ही विराट् और जुद्ध, अनन्त और ससीमका अभेद सम्पन्न होता दीखा । वह अभेद यह है,—जो कुछ है वह क्षुद्र नहीं है पर विराटका ही अंश है, उसका बालक है, अतः स्वयं विराट् है ।

धूप चमकी, तो वृद्धने मनुष्यसे कहा, 'मेरी छाया में आ जाओ, ' बादलोंसे पानी बरसा तो पर्वतने कंदरामे सूखा स्थल प्रस्तुत किया और मानो कहा, ' डरो मत, यह मेरी गोद तो है । ' प्यास लगी तो झरनेके जलने अपनेको पेश किया । मनुष्यका चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनीपरसे खिले गुलाबने कहा, ' भाई, मुझे देखो, दुनिया खिलनेके लिए है । ' साँझकी बेलामें मनुष्यको कुछ भीनी-सी याद आई, और आमके पेड़परसे कोयल बोल उठी, ' कू—ऊ, कू—ऊ । ' मिट्टीने कहा ' मुझे खोदकर, ठोक-पीटकर, घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी । ' धूपने कहा, ' सदीं लगेगी तो सेवाके लिए मैं हूँ । ' पानी खिलखिलाता बोला, ' घबड़ाओ मत, मुझमें नहाओगे तो हरे हो जाओगे । '

मनुष्य प्राणीने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है ।

फिर भी, धूपको वह समझ न सका, वर्षाके जलको, मिट्टीको, फूलको,—किसीको भी वह पूरी तरह समझ न सका । क्या वे सब आत्मसमर्पणके लिए तैयार नहीं हैं ? पर, उस जुद्धने अहंकारके साथ कहा, ' ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा । मैं 'मैं' हूँ, और मैं जीऊँगा । '

इस प्रकार अहंकारकी टेक बनाकर, अपनेको क्षुद्र और सबसे अलग करके वह जीने लगा । अर्थात्, सब प्रकारकी समस्याएँ खड़ी करके उनके बीचमे उलझा हुआ वह जीने लगा । विश्वके साथ विभेद-वृत्ति ही, उसके जीनेकी शर्त बनकर, उसके भीतर अपनेको चरितार्थ करने लगी ।

पर, इस जीवनमे एक अतृप्ति बनी रही जो विश्वके साथ मानो अभेदकी अनुभूति पानेको भूखी थी । अहंकारसे घिरकर वह अपने क्षुद्रत्वके अवबोधसे त्रस्त हुआ,—यों ही विराटसे एक होकर अपने भीतर भी विराटताकी अनुभूति जगानेकी व्यग्रता उसमे उत्पन्न हुई । इस व्यग्रताको वह भाँति-भाँतिसे शान्त करने लगा । यहींसे धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान,—सब उत्पन्न हुए ।

यह अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया । एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार । एक भाविष्य था तो दूसरा वर्तमान ।—इन्हीं दोनोंके संघर्ष और समन्वयमेंसे मनुष्य प्राणीके जीवनका इतिहास चला और विकास प्रगटा ।

मनुष्यकी मनुष्यके साथ, समाजके साथ, राष्ट्रके और विश्वके साथ, (और इस तरह स्वयं अपने साथ) जो एक सुन्दर सामंजस्य,—एकस्वरता, (=Harmony) स्थापित करनेकी चेष्टा चिरकालसे चली आ रही है, वही मनुष्य जातिकी समस्त संप्रहीत निधिकी मूल है । अर्थात्, मनुष्यके लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूपमें उसी एक सत्य-चेष्टाका प्रतिफल है । इस प्रक्रियामें मनुष्य जातिने नाना भाँतिकी अनुभूतियोंका भोग किया । सफलता की,

साहित्य क्या है ?

विफलता की, क्रिया की, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय, भीति, आह्लाद, घृणा और प्रेम,—सब भाँतिकी अनुभूतियाँ जातिके शरीरने और इतिहासने भोगीं, और वे जातिके जीवन और भविष्यमें मिल गईं । भाँति-भाँतिसे मनुष्यने उन्हें अपनाया, और व्यक्त किया । मंदिर बने, तीर्थ बने, घाट बने,—वेद, शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्तियाँ बनीं और स्तूप निर्मित हुए । मनुष्यने अपने हृदयके भीतर विश्वको यथासाध्य खींचकर जो जो अनुभूतियाँ पाई,—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदिको उपादान बनाकर, उन्हें ही रख जानेकी उसने चेष्टा की । परिणाममें, हमारे पास ग्रन्थोका अटूट, अतोल संग्रह है, और जाने क्या क्या नहीं है ।

मानव-जातिकी इस अनन्त निधिमें जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है । और भी, अक्षर-वद्ध रूपमें जो अनुभूति-संचय विश्वको प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य ।



प्रश्नोत्तर*

प्रश्न—साहित्य क्या है ?

उत्तर—क्या साहित्यकी परिभाषा चाहते हैं ? परिभाषा अनेक दी जा सकती हैं । लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रश्नका उद्देश्य परिभाषा माँगने अथवा लेनेका नहीं है । साहित्यको हमें समझना चाहिए । समष्टि रूपमें हम एक हैं, व्यक्तिगत रूपमें हम अनेक हैं, अलग अलग हैं । इस अनेकताके बोधसे हम ऊपर उठना चाहते हैं । आखिर तो हम समयके अंग ही हैं । उस समयके साथ ऐक्य न पालें तब तक कैसे हमें चैन मिले ? इसीसे व्यक्तिमें अपनेको औरोंमें और औरोंको अपनेमें देखनेकी सतत अभिलाषा है । मनुष्यके समस्त कर्मका ही यह अर्थ है । मनुष्यके हृदयकी वह अभिव्यक्ति जो इस आत्मैक्यकी अनुभूतिमें लिपिबद्ध होती है, साहित्य है ।

प्रश्न—साहित्यका जन्म कैसे हुआ ?

उत्तर—इसका उत्तर तो ऊपर ही आ जाता है । मनुष्य अपने आपमें अधूरा है, लेकिन वह पूर्ण होना चाहता है । इस प्रयासमें क्रमशः वह भाषाका आविष्कार कर लेता है, लिपि भी बनाता है । तब वह उस लिपिबद्ध भाषाके द्वारा अपनेको दूसरेके प्रति उँढेलता है । अपनेको स्वयं अतिक्रमण कर जानेकी इस चाहको ही साहित्यकी मूल प्रेरणा समझिए ।



* ये प्रश्न श्री रमेशचन्द्र आर्यने किये थे ।

विज्ञान और साहित्य

ज्ञानकी प्राथमिक अवस्थामें मनुष्यके निकट स्वप्न और सत्यमे अधिक भेद न था । जो उसने सपनेमें देखा, जो कल्पना की, उसे ही सच मान लिया । और जिसको आजकल हम वास्तव कहकर चीन्हते हैं,—पत्थर, धातु, आदमी, समाज, सरकार,—ये सब-कुछ उसके लिए उतना ही अवास्तव अथवा संदेहास्पद था जितना कि उसका स्वप्न ।

आँख खोलते ही उसने देखा,—सूरज है जो चमकता है; उसने तुरन्त कहा, 'सूरज बड़ा कान्तिमान् देवता है।' उसने और भी देखा कि सूरज पूरबमें उगता और पच्छिममें डूबता है,—इस तरह वह चलता भी है, और उसने कहा 'सूरज देवताके रथमें सात घोड़े हैं जो उसे तेजीसे खींचते हैं।' यो आदिम मनुष्यने जब सूर्यको देखा तब उसे आह्लाद हुआ, विस्मय हुआ, भक्ति हुई और सूरजके सम्बन्धमें उसने जो धारणा बनाई उसमें ये सब भाव किसी न किसी प्रकार व्यक्त हुए । सूर्य उसके निकट एक पदार्थ-मात्र न रहा जो ज्ञान-गम्य ही हो, वह उसके निकट देवता बन गया ।

आँख मींचनेपर उसने सपने देखे । देखा, वह पक्षीकी तरह उड़ सकता है, मछलीकी तरह पानीमें तैर सकता है,—पल-भरमें सागरोंको वह पार कर गया, सागरोंके पार हरियाली ही हरियाली है और वहाँ मीठी बयार चलती है । उसने झटसे कहा, 'वह है स्वर्ग । वहाँ अत्यन्त स्वरूपवान् व्यक्ति बसते हैं, वहाँ दुःख है नहीं, प्रमोद ही प्रमोद है ।'

यह सपनेका स्वर्ग उसके निकट वैसा ही वास्तव होकर रहा जैसा आँखोंसे दीखनेवाला सूरज । सूरजके प्रति उसने जलका तर्पण दिया तो इसी प्रकार अन्य देवताओंका समारोप करके उसने उनके प्रति अपनी कृतज्ञताका ज्ञापन किया । देवताओंके नाम बने, मूर्तियाँ बनीं, स्तवन बनें । और यह देवतालोक उसके जीवनके साथ एकाकार होकर, हिल-मिलकर, रहने लगे ।

इस प्राथमिक ज्ञानके उद्बोधनकी अवस्थामें मनुष्यने अपनेको जब विश्वसे अलहदा अनुभव किया तब उसके साथ भौतिक-भौतिके रिश्ते भी कायम रखे ।—तब उसका समस्त ज्ञान अनुभूतिसूचक ही रहा । विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान, अर्थात् विज्ञान, बहुत पीछे जाकर उदयमें आया ।

नानीने अपने नन्हेंसे बच्चेको चन्दा दिखाते हुए कहा, ‘ देखो बेटा, चन्दा मामा ! ’

बच्चेने उसे सचमुच ही अपना चन्दा मामा बना लिया । जब जब उसने चाँद देखा, ताली बजाकर, नानीकी उँगली पकड़कर कहा, ‘ देख नानी, चन्दा मामा ! ’

पर जब बच्चा बढ़कर बड़ा हुआ तब चाँद देखकर उसका ताली बजाना खत्म हो गया । चन्द्रमा देखकर किसी भी प्रकारके आह्लादकी प्राप्ति उसे नहीं होने लगी । आह्लाद कम हो गया, उत्सुकता भी कम हुई,—पर उसकी जगह एक गम्भीर जिज्ञासाका भाव जाग उठा । उस बड़ी उमर पाये हुए आदमीने कहा—

‘ चन्दा मामा नहीं है । मामा कहना तो मूर्खता है, निरा बचपन है । लाओ, टेलिस्कोप लगाकर देखें चन्द्रमा क्या है । ’

चन्द्रमामें कुछ काला-काला-सा दीखता है। हमारी कल्पना, जिसमें आत्मीय भावकी शक्ति है, झट वहाँतक दौड़ गई। और उसने कहा—

‘ वहाँ बैठी बुढ़िया चर्खा कात रही है । ’ दूसरेने ऐसा ही कुछ और कह दिया । यह कहकर मानों हमने सचमुच कुछ तथ्य पा लिया है, ऐसी प्रसन्नता मनको हुई ।

पर उमरवाले बालकने फिर कहा, ‘ नहीं नहीं, मेरे टेलिस्कोपमें जो दीखेगा चाँदमेंका काला काला दाग़ वही है । जबतक साफ़ साफ़ उसमे कुछ नहीं दीखता तबतक कुछ मत कहो । यह तुम क्या चर्खेवाली बुढ़ियाकी बाहियात बात कहते हो ! ’

जब शनैः शनैः इस प्रकार विश्वको आत्मसात् करनेकी मानवकी प्रक्रियामें यह द्विविधा आती चली, उसी समयसे मनुष्यके ज्ञानमे भी विभक्तीकरण हो चला । इससे पहिले जो था, सब साहित्य था । उस समय मनुष्य ज्ञाता और शेष विश्व ज्ञेय न था । वह भी विश्वका अंश जैसा था । उसमें अहम् सर्वप्रधान होकर व्यक्त न हुआ था । प्रकृति सचेतन थी और जगत् विराट्मय था । पंच-तत्त्व देवता-रूप थे और भिन्न भिन्न पदार्थ उनके प्रकाश-स्वरूप । तब विश्व मानो एक परिवार था और मानव उसका एक एक सदस्य । मानो विराटकी गोदमें बैठा हुआ वह एक बालक था ।

उस समय उसकी समस्त धारणाएँ अस्पष्ट थी अवश्य, पर अनिवार्य रूपमें अनुभूतिसूचक थीं, प्रसादमय थीं ।

आदमीने चकमकके दो टुकड़ोंको रगड़कर अग्नि पैदा की । पर उसने यह नहीं कहा, ‘ चकमकके टुकड़ोंको रगड़ा इससे आग पैदा हुई है । ’ उसने नहीं कहा, ‘ देखो, मैं इस तरह आग पैदा कर लेता

हूँ । ' उसने माना अग्नि देवता प्रसन्न हुए है । उन्हींका प्रसाद है कि यह स्फुर्लिंग उसे प्राप्त हुआ है । चकमककी रगड़ तो प्रसाद-प्राप्तिके लिए निमित्तमात्र साधन है ।

आज दियासलाई जलाकर हमने आग पाई और एक फार्मूला (=सूत्र) प्रस्तुत किया कि अमुक रसायन-तत्त्वोंसे बनी हुई दियासलाईको अमुक मसालेसे रगड़नेपर अवश्य अग्नि प्राप्त होगी । उस फार्मूलेके सहारेसे हमने देवताका निर्वासन कर दिया और अग्नि हमारी चेरी होकर रह गई ।

यह फार्मूला-बद्ध धारणा स्पष्ट, निश्चित, और कदाचित् अधिक तथ्यमय अवश्य है, किन्तु अनुभूतिसूचक नहीं है । इस धारणासे हमारे चित्तके किसी भावको वृत्ति नहीं प्राप्त होती ।

अधिकाधिक अनुभूति-संचय और अवबोधवृद्धिके बाद मनुष्यने अपनेको ज्ञाता अनुभव करना आरम्भ किया । उसने अपनेको पदार्थोंसे और पदार्थोंको अपनेसे एक बार अलग करके फिर उन्हें बुद्धिके मार्गद्वारा अपने निकट लानेकी चेष्टा की ।

हम कह चुके हैं, मानव अपनी सब चेष्टाओं, सब प्रयत्नों और सब प्रपंचोद्वारा, जाने-अनजाने एक ही सिद्धिकी ओर बढ़ रहा है । और वह सिद्धि है,—अपनेको विश्वके साथ एकाकार करना और विश्वको अपने भीतर प्रतिफलित देख लेना । बुद्धिके प्रयोगद्वारा भी वह इसी अभेद-अनुभूति तक पहुँचना चाहता है । किन्तु, मानव-बुद्धि उस तलकी वस्तु है जहाँका सत्य विभेद है, अभेद नहीं । वह अन्वयद्वारा चलती है, खण्ड खण्ड करके समयको समझती है । अहंकार उसका मूल है और ज्ञेयका पार्थक्य उसकी शर्त ।

जहाँ यह बुद्धि प्रधान होकर रही, जहाँ उसने पदार्थको उसके

चारों ओरके सम्बन्धोंसे तोड़कर उसे समझनेकी चेष्टा की,—और जिसका परिणाम जीवनके रस और नीतिसे, इस प्रकार, अधिकाधिक विच्छिन्न होकर प्रकट हुआ कि जिससे अनुभूति कम और यत्न अधिक व्यक्त हुआ, और जो अन्ततः रेखाबद्ध और फार्मूला-बद्ध विद्या हो पड़ी,—वही वस्तु है विज्ञान ।

मनुष्यके विकास-आरम्भके पर्याप्त कालके अनन्तर विज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ । आदिमें तो विज्ञानको भी अनुभूति-मय रखनेकी चेष्टा रही । अर्थात् रूपकों, कहानियों और श्लोकोद्वारा उसे प्रकट किया गया । बहुत पीछे जाकर, उसे व्यवस्था-बद्ध विज्ञानका वह रूप मिला जो जीवनकी असली आवश्यकतासे विच्छिन्न हो गया ।

इसके विरोधमें जब मानवने अपने व्यक्तित्वके पूरे जोरसे विश्वको अपनानेकी चेष्टाको शब्दोंमें व्यक्त किया,—जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ लगभग स्रष्टा ज्ञाता है ही नहीं वरन् वह अपनी सृष्टिसे एकाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजनका है जाननेका नहीं, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेयका पार्थक्य नहीं है और जहाँ स्रष्टा और सृष्टिकी एकता है,—वह है साहित्य ।

इस तरह विज्ञान प्रथमावस्थामें साहित्य है ।

और अपनी अन्तिम अवस्थामें भी,—जब वह केवल बुद्धिका व्यापार नहीं है, और जब वह प्रसाद-मय, रहस्य-मय, और मानों ईश्वराभिमुख है,—वह साहित्य है ।

कहा गया है जानना ही बनना है,—Knowing is becoming; जहाँ जाननेका स्वरूप बनते जानेका है, जहाँ ज्ञान संग्रहसे अधिक रचना करता है वहाँ विज्ञान शुद्ध ज्ञान है और साहित्य भी शुद्ध ज्ञान है,—अर्थात् एक विज्ञान है ।

साहित्य और समाज

हिन्दी-साहित्यमें अब जो नई शक्तियाँ आ रही हैं, उनमें बहु-भागको सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। कुछ काल पहले तक हमारा साहित्य उच्च-वर्गीय था। उसके उत्पादक समाजके प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति थे। अब अधिकांश ऐसा नहीं रह गया है। जिनको समाजमें पैर टेकनेको कोई ठीक ठौर नहीं है, वे लोग भी आज लिखते हैं। इससे प्रश्न होता है कि समाजकी और साहित्यकी परस्पर क्या अपेक्षा है ?—क्या सम्बन्ध है ?

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाजकी नीति-अनीतिकी मान्यताओंकी ज्यों त्यों स्वीकृति साहित्यमें प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी साहित्यमें समाजकी उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओंके प्रति व्यक्तिका विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पड़ता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पणके तौरपर सामाजिक अवस्थाओंको अपनेमें विम्ब-प्रतिविम्ब-भावसे धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसी वस्तु है जो समाजको प्रतिबिम्बित तो करे, पर चाटुतासे अधिक उसे चोट दे, और इस भाँति समाजको आगे बढ़ानेका काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह ला देता ही नहीं, अब वह कराता भी है। हमारी बीबी ही उसमें नहीं है, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं।

जो समाजके प्रति विद्रोही है, समाजकी नीति-धर्मकी मर्यादाओंकी रक्षाकी जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर, अपनी ही राह चला चल रहा है, जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है,—ऐसा आदमी भी साहित्य-सृजनके लिए आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता । प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-साहित्यके कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिये जाते हैं । वे लोग जो विश्वके साहित्याकाशमें द्युतिमान् नक्षत्रोंकी भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरम्भमें तिरस्कृत रहे, पर, अन्तमें उसी समाजद्वारा गौरवान्वित हुए । उन्होंने अपने जीवन-विकासमें समाजकी लाञ्छनाकी वैसे ही परवा नहीं की, जैसे समाजके गौरवकी । उनके कल्पनाशील हृदयने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस, वे उसीकी ओर सीधी रेखामें बढ़ते रहे । यह समाजका काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे । उन व्यक्तियोंने अपना काम इतना ही रक्खा कि जो अपने भीतर द्ध्रत लौ जलती हुई उन्होंने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहें । समाजने उन्हें आरम्भमें दरिद्र रक्खा, ठीक । अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनायें तक दीं, हँसी उड़ाई,—यह सभी कुछ ठीक । किन्तु, जो कल्याण-मार्ग उन्होंने थामा उसीपर वे लोग सबके प्रति आशीर्वादसे भरे ऐसे अविचल भावसे चलते रहे कि समाजको दीख पड़ा कि उनके साथ कोई सत्-शक्ति है,—जब कि, समाजकी अपनी मान्यताओंमें सुधारकी आवश्यकता है ।

ऐसे लोग पहले तिरस्कृत हुए, फिर पूजित हुए । संसारके महा-

पुरुषोंके चरित्रोंमें यही देखनेमें आता है। समाजके साथ उनका नाता गुलामीका नहीं होता, नेतृत्वका होता है। वे अपनी राह चलते हैं। समाज उनपर हँसता है, किन्तु, फिर उन्हींके उदाहरणसे अपनी आगेकी राहको प्रकाशित भी पाता है।

काल-भेदकी अपेक्षा हमने साहित्यकी प्रकृतिमें भेद चीन्हा। किन्तु, गुण-भेदसे भी साहित्यमें दो प्रकार देखे जा सकते हैं। एक वह जो समाजके स्थायित्वके लिए आवश्यक है, दूसरा वह जो समाजको प्रगतिशील बनाता है।

साहित्य दोनों प्रकारके आवश्यक हैं। लेकिन, यदि अधिक आवश्यक, अधिक संप्राण, अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसीको हम कहना ही चाहें तो उस साहित्यको कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है, और, चाहे चावुककी चोटसे क्यों न हो, समाजको आगे बढ़ता है। वह साहित्य आदर्श-प्राण होता है, भविष्यदर्शी होता है, चिरनूतन होता है,—किन्तु, ऐसा साहित्य सहज मान्य नहीं होता।

समाजमें दो तत्त्व काम करते हुए दीखते हैं। समाजके सब व्यक्ति न्यूनाधिक रूपमें इन्हीं दोनों तत्त्वोंके प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। एक ग्राहक है, एक विकीर्णक। एक व्यक्तित्वशून्य, एक सव्यक्तित्व। एक वह जो अपने भीतर ही अपना केन्द्र अनुभव करता है; दूसरा वह जो अपने परिचालनके लिए अपनेसे बाहर देखनेकी अपेक्षा रखता है। एक गतिशील, दूसरा संवरणशील।

सामाजिक जीवन अथवा समाजका व्यक्ति इन्हीं दोनों तत्त्वोंके न्यूनाधिक अनुपातका सम्मिश्रण है। एक ओर गाँवका बनिया है

कला क्या है ?

कुछ बातें मुझे जल्दीमें कहनी हैं । क्योंकि, जब मुझे अवकाश और स्थिरता हो, तब मैं इन बातोंको नहीं कहूँगा । उस समय तो चुप रहना मुझे अधिक प्रिय होता है । या, उस समय कुछ लिखूँ ही या करूँ ही, तो वह लिखना या करना अच्छा लगता है जो बृहत्-फल न हो और साधारण प्रतीत होता हो । तब कविता लिखूँगा, कहानी लिखूँगा,—या इसी जोड़का कुछ निष्प्रयोजन काम करूँगा । किन्तु, अब अवकाशकी कमीमें मैं कुछ उन बातोंपर लिखकर छुटी चाँहूँगा जिनपर झगड़ा होता है और जिन्हें लोग कामकी और ज़रूरी समझा करते हैं ।

दुनियामें एक तमाशा देखनेमें आता है—

—जो जीवनमें कलामय नहीं है उसे चिन्ता है कि समझे कि कला क्या है । दुनियाको ऐसी चिन्ता आजकल बहुत खा रही है ।

—सत्यके साथ एकाकार होकर रहनेकी जिनके जीवनमें चेष्टा नहीं है वे सत्यके सम्बन्धमें विवाद उठानेमें काफी कोलाहलपूर्ण हैं ।

—धर्मको लेकर धार्मिक लोग सेवा-कर्ममें और भगवत्-प्रार्थनामें जब लीन हैं तब और लोग हैं जिनकी धर्मके सम्बन्धमें आकुलता जगतमें उद्घोषित होती रहती है और जो धर्मको लेकर शास्त्रार्थ और यदा-कदा मानव-मस्तकोंकी तोड़-फोड़ किया करते हैं ।

सामाजिक क्या, राजनीतिक क्या और साहित्यिक क्या,—हर क्षेत्रमें जब यह विचित्रता दीखती है तब बड़ा अनोखा भी मालूम होता

है और समझ जैसे गड़बड़में पड़ जाती है। हर क्षेत्रमें श्री नीचे है, आलोचक ऊपर है। साहित्यमें स्रष्टा सृष्टि करेगा, आलोचक राज्य करेगा। समाजके क्षेत्रमें दंभी चौधरी बनेगा, धार्मिक पामाल होगा। राजनीतिके क्षेत्रमें वालंटियर सच्चा होगा, नेता सच्चेसे अधिक नीतिज्ञ होगा।

ऊपरसे देखनेसे यह स्थिति मनुष्यको नास्तिक बना सकती है। नास्तिकसे अभिप्राय है श्रद्धाशून्य,—Faithless, संदेहप्रस्त।

किन्तु, श्रद्धावानके लिए तो विचलित होनेकी बात कभी कुछ है ही नहीं। यह समस्त सामग्री आस्तिककी तो आस्तिकता ही बढ़ाती है, श्रद्धालुकी श्रद्धाको पुष्ट करती है।—उसे कुछ और अधिक प्रबुद्ध और जाग्रत् ही करती है।

जो ऊपरसे देखता है वह क्रुद्ध हो रहता है,—विद्रोही, और विप्लवी बन जाता है। वह अन्तर्मे कहता है, 'असत्य ही सत्य है। मैं ही परमेश्वर हूँ। जो दीखता है, उसे छोड़ और कोई सत्य नहीं है।' वह कहता है, 'मनुष्यकी ही जय है। हाँ, शक्ति ही नीति है।' अहंकार उसके जीवनका मूल मंत्र बनता है।

किन्तु, विश्वासीको तो पत्ते पत्तेमें, घटना घटनामें, पल पलके भीतर यही ज्वलंतरूपमें लिखा हुआ दीखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। जब क्रूर संतकी छातीपर पैर रखकर दर्पकी हँसी हँसता है तब भी वह श्रद्धावान् संत यही देखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। हिरण्यकशिपुकी नियोजित हर विपदाकी गोदमे बालक प्रह्लादको यही दीखा कि इस सबमें भी उसके प्रभु रामचन्द्र ही है। कशिपुके नाश और प्रह्लादके उद्धारकी बात तो उस पुनीत कथाका अंत है,—उस कथाके मर्मका बखान तो प्रह्लादकी वज्र-श्रद्धामें ही होता है।

पहले प्रकारके पुरुषके,—नास्तिकके, निकट यह साबित नहीं किया जा सकता कि जो वह समझता है वही विश्वका सत्य नहीं है। यानी, यह कि यहाँ गर्वस्फीत शक्तिकी ही जय नहीं है,—उसके अन्तर्गत किसी और ही परम सत्ताकी जय है।

दूसरे प्रकारके पुरुषके निकट इसी भाँति यह कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि सत्य कभी हारता है। ऐसा पुरुष मरते मर सकता है, पर सत्यकी राह छोड़ते उससे नहीं बनता।

इन दोनों प्रकारके तत्त्वोंके बीच और इन दोनों भाँतिके पुरुषोंके मध्य आलाप-संलाप, तर्क-विग्रह और संधि-भेद चलता ही रहता है। इसीका नाम विश्वकी प्रक्रिया है।

हमारी मानवीय दुनियाका जो साहित्य-कोष है, वह इसी प्रकारकी प्रक्रियाका शब्दबद्ध संग्रह है। इन दो तरहके लोगोंमें एक दूसरेको समझनेकी चेष्टाएँ और न समझनेकी अहंता, परस्परको पूर्ण बनानेका उद्यम और परस्परको अकृतकार्य करनेका उद्योग आदि, आदि-कालसे चलता चला आ रहा है। इसी संघर्ष और इसी समन्वयमेसे, अर्थात् इसी मंथनमेंसे, ज्ञान ऊपर आता है और प्रगति संपन्न होती है।

किन्तु, हम जल्दीमें हैं और यहाँ हम हठात् एक सवाल उठा लेंगे और कुछ देर उसके साथ उधेड़-बुन करके आपसे छुट्टी लेंगे।

सवालके लिए 'कला' शब्द ही लीजिए। कला क्या है, इसपर बहुत-कुछ लिखा गया है, बहुत-कुछ लिखा जा रहा है। कुछ तो उसमें काफी शास्त्रीय है, कुछ ऐसा भी है जिसमें ताजगी है। 'कला' शब्दको ऐसा विवादास्पद शब्द बनानेकी हमारी अनुमति नहीं है जिसको लेकर दो व्यक्ति आपसमें सहानुभूतिसे वंचित हो जायें।

अधलेटी रसीली रंभा,—इन दोनोंमेंसे, बताओ, साहित्य किसको लेकर धन्य होगा ?

हाँ, मैं कहूँगा, 'सृष्टाके लिए Preference (= पक्षपात) होते होंगे और जितने स्पष्ट और पैने हो उतना अच्छा,—यहाँ तक कि उनकी धार इतनी पैनी हो कि वे व्यक्तियोंमेंसे पार होते चले जायँ और व्यक्तिको दैहिक चोट तनिक न अनुभव हो। और, जिस तरह रमला अधिकसे अधिक ईमानदार और उद्यमी और त्रस्त होकर भी अपने ऊपर लिखी गई रचनाको निकम्मी होनेसे नहीं रोक सकता, उसी तरह, रंभा अधिकसे अधिक कुटिल होकर भी अपने ऊपर लिखी गई साहित्यिक रचनाको अतिशय धन्य होनेसे नहीं रोक सकती। मेरे भाई, मैं अपनेसे कहूँगा, किसीकी भी आत्मा, वेदना और स्वप्नसे खाली नहीं है। अहंकार छोड़कर उसकी आत्मामें तुम तनिक झँक सको,—चाँडाल हो कि ब्राह्मण, वेश्या हो कि संत, राजा हो या रंक,—सब कहीं वह है जो तुम्हारी खोजकी वस्तु है। किसीको तजनेकी आवश्यकता नहीं, किसीको पूजनेकी ज़रूरत नहीं। साहित्यके आदर्शकी मूर्तिको 'रमला' में स्थापित करनेके लिए उसे 'रंभा'मेंसे क्यों तोड़ते हो ? यों तो मूर्ति ही ग़लत है, क्योंकि, मूर्तिसे बाहर होकर भी साहित्यका आदर्श ठौर ठौर अणु-अणुमें व्यापा है। लेकिन, यदि तुम मूर्ति चाहते ही हो, और रमलामें आदर्श-दर्शन सहज तुम्हे होते हैं तो सहर्ष तुम उस मंदिरमें सर्वांग-मूर्ति प्रतिष्ठित करो। मैं तो कहता हूँ,—मैं अपनेसे कहूँगा, 'मेरे लिए पहलेसे वह मंदिर है, मुझे तो मूर्ति भी वहाँ पानी है। लेकिन, तुम इस नये यत्नमें 'रंभा'को, या किसी औरकी मूर्ति या मंदिरको, तोड़नेकी जिद रखना ज़रूरी न समझो। इससे तुम्हारा ही अपकार होगा।'

किसके लिए लिखें ?

लेकिन, प्रश्न तो है,—हम किसके लिए लिखें ? साहित्यिक उद्यमी होनेके नाते क्या दिशा हम उसे दे ? क्या सब अंधाधुंध चलने दें ? हमारे युवक बिगड़ते हैं, स्त्रियाँ विपथगा होती है, भ्रष्टाचार फैलता है,—यह होने दें ? और तब, जब, दुर्भाग्यसे, संपादककी जिम्मेदारी हमारे अनुद्यत कंधोंपर रक्खी है, और हमें कुछ न कुछ बनाना होता है ।

किसके लिए लिखें ?—यह सोचते हुए जब यहाँ पहुँचता हूँ कि दुनियाकी 'भलाईके लिए लिखो, तब मुझे ग्लानि होती है । ध्यान आता है कि हर मिनट जीनेके 'लिए मैं' जिसका ऋणी हूँ,—आज उसका उपकारक, उद्धारक होने चला हूँ । और भलाई करूँ,—इसमेंसे पर्याप्त प्रेरणा भी नहीं प्राप्त होती । अपने सुखके लिए लिखूँ, तो नहीं जानता कि लिखनेमें मुझे सुख होता है या नहीं । और मुझे सुख होता भी है तो तब, जब पाता हूँ कि छपकर वह बात सैकड़ोंके पास पहुँच गई है, और दो-एक तारीफ भी कर रहे है । मुझे सुख भी तो 'मुझसे दूसरे सुख पा रहे हैं', यह जानकर ही होता है । अच्छा, और जो किसीने तारीफ नहीं की, बल्कि मेरी रचनाकी कुछ बुराई ही हुई, तो क्या मैं न लिखूँ ? अपने सुखके लिए लिखूँ तो, ऐसी हालतमें, मुझमें लिखनेकी प्रेरणा शेष नहीं रहेगी ।

'अपने लिए लिखें, या परायेके लिए ?' जब यह प्रश्न इसी भाँति दो-मुखी होकर मेरे सामने खड़ा रहा,—मुझे सूझा नहीं कि मैं उसपर चलूँ या इसपर (और दोनोंसे बच निकलनेकी राह कहाँ थी ?) तब मालूम हुआ—अरे, अपने अहंकारमें भरा मैं यह क्यों नहीं सोचता कि एक वह भी तो है जहाँ पराया भी अपना है और

अपना सब-कुछ भी जिसमें समाया है। बस, उसीके लिए तो यह सब रहना, करना, और लिखना है। अपने भीतर और बाहर उसी एकमात्र सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए मैं लिखूँ।

‘विशाल भारत’ने जो ‘जनता-जनार्दनाय’ लिखा है, वह ठीक लेकिन, क्या ‘जनार्दनाय’ मेरे निकट और भी ठीक न होगा क्योंकि, ‘जनता’ में पशु-पक्षी कहाँ है, वनस्पति कहाँ है, यह आकाश तारे कहाँ हैं?—और, ‘जनार्दन’ में तो हमारा ज्ञान-अज्ञान सब है

लेकिन, ‘जनार्दन’ को आजकल कौन जाने, कौन माने? इसमें आजकलकी भाषामें कहना हुआ,—सत्यकी शोध, सत्यकी चर्चा सत्यकी पूजाके लिए हम लिखें।

उसके बाद, गरीबके लिए लिखें, अमीरके लिए लिखें, साधारणके लिए लिखें या किसके लिए लिखें,—दुराचारी या सदाचारीके लिए स्त्रीके लिए या पुरुषके लिए, मनोरंजनके लिए या साधनाके लिए?—ये बातें अधिक उलझन नहीं उपस्थित करती।

सत्यके प्रसार और अंगीकारके लिए हम लिखते हैं। सत्यमें जो बाधा है वही गिराना सत्यका ऐक्य है। कुछ एक दूसरेके निकट अछूत हैं, गलत समझे हुए (misunderstood) हैं, आधे समझे हुए (half understood) हैं,—कुछ त्याज्य हैं, दलित हैं, त्रस्त हैं, अपराधी हैं, अभियुक्त हैं, दीन हैं, बेजुबान हैं;—कुछ गर्बीले हैं, दर्पोद्धत हैं, रुष्ट हैं, निरंकुश हैं।—यह सब सत्य है। यह क्यों? मनुष्यकी अहंकृत मान्यताओंमें घुटकर जीवन एक समस्या बन गया है और अपने चारों ओर दुर्गकी-सी दीवारें खड़ी करके उनमें अपने स्वार्थको सुरक्षित बनाकर चलनेके लिए सब अपनेको लाचार

दो, जिससे कि लोगोके छोटे छोटे दिल कैदसे मुक्ति पायें और प्रेमसे भरकर वे अनन्त शून्यकी ओर उठे ।

अभी चरचा हुई कि क्या लिखें, क्या न लिखें । कुछ लोग इसको साफ़ जानते हैं; पर, मेरी समझ तो कुंठित होकर रह जाती है । मैं अपनेसे पूछता रहता हूँ कि सत्य कहाँ नहीं है ? क्या है जो परमात्मासे शून्य है ? क्या परमात्मा अखिल-व्यापी नहीं है ? फिर जहाँ हूँ, वहाँ ही उसे क्यों न पा लूँ ? भागूँ किसकी ओर ? क्या किसी वस्तु-विशेषमें वह सत्य इतनी अधिकतासे है कि वह दूसरेमें रह ही न जाय ? ऐसा नहीं है । अतः निषिद्ध कुछ भी नहीं है । निषिद्ध हमारा दम्भ है, निषिद्ध हमारा अहंकार है, निषिद्ध हमारी आसाक्ति है । पाप कहाँ बाहर नहीं है, वह भीतर है । उस पापको लेकर हम सुन्दरको बीभत्स बना सकते हैं और भीतरके प्रकाशके सहारे हम घृण्यमें सौन्दर्यका दर्शन कर सकते हैं ।

एक बार दिल्लीकी गलियोंमें आँखके सामने एक अजब दृश्य आ गया । देखता हूँ कि एक लड़की है । बेगाना चली जा रही है । पागल है । अठारह-बीस वर्षकी होगी । सिरके बाल कटे हैं । नाकसे द्रव वह रहा है । काली है, अपरूप उसका रूप है । हाथ और बदनमें कीच लगी है । मुँहसे लार टपक रही है । वह बिल्कुल नग्न है । मैंने उसे देखा, और मन मिचला आया । अपने ऊपरसे काबू मेरा उठ जाने लगा । मैंने लगभग अपनी आँखें मींच लीं और झटपट रास्ता काटकर मैं निकल गया । मेरा मन ग्लानिसे भर आया था । कुछ भीतर बेहद खीझ थी, त्रास था । जी घिनसे खिन्न था । काफी देर तक मेरे मनपर वह खीज छाई रही; किन्तु, स्वस्थ होनेके

बाद मैंने सोचा, और अब भी सोचता हूँ, कि क्या वह मेरी तुच्छता न थी ? इस भाँति सामने आपदा और विपदा और निरीह मानवताको पाकर स्वयं कनी काटकर बच निकलना होगा क्या ? मैं कल्पना करता हूँ कि क्राइस्ट होते, गौतम बुद्ध होते, महात्मा गान्धी होते, तो वे भी क्या वैसा ही व्यवहार करते ? वे भी क्या आँख बचाकर भाग जाते ? मुझे लगता है कि नहीं, वे कभी ऐसा नहीं करते । शायद वे उस कन्याके सिरपर हाथ रखकर कहते—आओ बेटा, चलो । मुँह-हाथ धो डालो, और देखो यह कपड़ा है, इसे पहिन लो । मुझे निश्चय है कि वे महात्मा और भी विशेषतापूर्वक उस पीड़िता बालाको अपने अन्तस्थ स-करुण प्रेमका दान देते ।

पर नम्रता हमारे लिए तो अश्लीलता है न ? सत्य हमारे लिए भयंकर है, जो गहन है वह निषिद्ध है, और जो उत्कट है वह बीभत्स । अरे, यह क्या इसीलिए नहीं है कि हम अपूर्ण हैं, अपनी छोटी-मोटी आसक्तियोंमें बंधे हुए हैं ! हम क्षुद्र हैं, हम अनधिकारी हैं ।—मैंने कहा, अनधिकारी । यह अधिकारका प्रश्न बड़ा है । हम अपने साथ झूठे न बनें । अपनेको बहकानेसे भला न होगा । सत्यकी ओट थामकर हम अपना और परका हित नहीं साध सकते । हम अपनी जगह और अपने अधिकारको अवश्य पहिचानें । अपनी मर्यादा लाँघें नहीं । हठ-पूर्वक सूर्यको देखनेसे हम अन्धे ही बनेंगे; पर, बिना सूर्यकी सहायताके भी हम देख नहीं सकते, यह भी हम सदा याद रखें । हम जान लें कि जहाँ देखनेसे हमारी आँखें चका-चौंधमें पड़ जाती हैं वहाँ देखनेसे बचना यद्यपि हितकर तो है, फिर भी, वहाँ ज्योति वही सत्यकी है और हम शनैः शनैः अधिकाधिक सत्यके सम्मुख होनेका अभ्यास करते चलें ।

साहित्य और साधना*

भाइयो,

साहित्यके सम्बन्धमे मैने कुछ पढ़ा नहीं है, किन्तु, इस बातका मुझे गर्व है कि जो प्रेमके ढाई अक्षर पढ़ लेता है वही साहित्यिक है। इसे आज मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। साहित्यके क्षेत्रमें पुस्तकोका ज्ञान उतना आवश्यक नहीं है जितनी आवश्यकता है साधना और उपासनाकी। विश्वके हितके साथ एकाकार हो जाय, यही जीवनका लक्ष्य है। बाह्य जीवनसे अंतर-जीवनका सामंजस्य हो, इस सत्यको प्रत्यक्ष करनेमे ही जीवनकी सार्थकता है। ग्रन्थोंके पढ़नेसे हममें बड़ा विभेद उत्पन्न हो जाता है। साधनाका विषय है साहित्य। आप वर्णमाला भी चाहे न जानें, आपको एक अक्षरका भी ज्ञान न हो, किन्तु, आपके मुखसे कोई वाणी उद्भूत हो और, सम्भव है, आपमेका कवि बोल उठे। वह वाणी सबके हृदयोको प्लावित कर देती है, वह पढ़ने या पढ़ानेसे प्राप्त नहीं हो सकती, उससे तो इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। साहित्यका सीधा सम्बन्ध साधनासे है। साहित्य यदि लिखनेकी चीज़ होती तो बहुत बड़ी चीज़ होती। पर, यदि वह लिखनेकी ही चीज़ होती तो मेरे हृदयकी चीज़ नहीं हो सकती। हमारी भावनाएँ आत्मासे निकलती हैं, जहाँ उनका व्यक्तीकरण हुआ वही साहित्य हुआ। जीवन तो उसके बादकी बात है।

जब तक सत्यान्वेषणकी प्रवृत्ति हममें है तब तक हम सुन्दर

* इन्दोर—‘हिन्दी साहित्य-सम्मेलन’ के भाषणका अंश।

साहित्यकी सृष्टि कर सकते हैं; यदि नहीं, तो वह व्यर्थ है,—उसमें केवल दो-चार बुद्धिवादी मनुष्य ही आनन्द पा सकते हैं। जीवनसे अनपेक्षित होकर साहित्य न ज़िन्दा रहा है, न रह सकता है। जीवनकी जितनी समस्याएँ हैं वे हमारे सामने जीवित समस्याके रूपमें उपस्थित हों। वाल्मीकि और तुलसी आदि कोई बड़े विद्वान् न थे,—जो साहित्यके धुरन्धरचूड़ामीण कहलाते हैं, उन जैसे विद्वान् न थे, वे तो सन्त थे। वे ही हमारे लिए सुन्दरसे सुन्दर साहित्य छोड़ गये हैं और उनका जीवन विश्वके हितके लिए बलिदान हो गया है। हमारा और साहित्यका जो सम्बन्ध रहा है वह किताबका विषय बना हुआ है, जीवनका नहीं। उसीको कुछ जीवित चीज़ बनाना होगा।

जो विद्वानके लिए भी गूढ़ है वह जनसाधारणके लिए साधारण हो जाता है। जो साहित्य सबसे ऊँचे दर्जेका है वह विद्वानके लिए उतना ही सुन्दर है जितना जनसाधारणके लिए। फिर भी, उसमें इतनी गूढ़ता है कि उसकी सचाईका अन्त नहीं है। भाषा चाहे जैसी हो, भावना और शैली चाहे जैसी हो, व्याकरणकी कठिनता भी न हो, किन्तु, वह जीवनकी, हृदयकी, चीज़ जरूर हो। वह हमारी कमजोरियोंकी दीवारमें झरोखे पैदा कर दे जिसमें शुद्ध हवा आने-जाने लग जाय। बीमारके लिए स्वच्छ हवा कैसे हानिकारक है ? मनुष्य-मनुष्यके बीचमें जो दीवारे खड़ी कर दी गई हैं साहित्य उनमें खिड़कियाँ खोल देगा। उनके बीचसे निकलेगा और वह राजाके बीच हरिजनों और किसानोंका चित्रण करेगा। राजाका चित्रण उसी स्वाभाविक रीतिसे होगा जिससे किसानका भी चित्र प्रतिबिम्बित हो। सब मनुष्य हैं, सब एक हैं,—यही साहित्यका

काम है; उसमें चोरको फाँसी देनेवाला न्यायाधीश और चोर स्वयं एक हों, सबमें ईश्वर हो,—इसीका नाम साहित्य है ।

समन्वय करते करते वस्तुओंके प्रति द्वंद्वका भाव नष्ट हो जाय । महात्माजीने अपने एक रिकार्डमें कहा है कि जो है सो परमात्मा है । फिर यह पाप और पुण्य क्या है ? परमात्मामेंसे पाप कैसे आया ? बात यह है कि पाप भी है और पुण्य भी है, फिर भी, पापके खिलाफ लड़ते रहो । समाधान श्रद्धासे ही मिलता है । इसी स्वर्गीय समाधानमें साहित्यकी सिद्धि है ।

लेखकके प्रति

यह तत्त्व लेखक बननेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक महाशयको जान लेना चाहिए कि रामचन्द्रजीको मूर्त रूपमें प्रस्तुत करनेमें ऋषि वाल्मीकिने अपनी पवित्रतम भावनाएँ और उच्चतम विचार और श्रेष्ठतम अंशका दान दिया । वाल्मीकिमें जो सर्वोत्कृष्ट है, वही राम है । लेखककी महत्ता यही है कि जो उसमें सुन्दर है, शिव है, सत्य है,—जो उसमें उत्कृष्ट है और विराट् है उसीको वह सबके अर्थ दे जाय । उसे अपना और अपने नामका मोह न हो, वह अपने आदर्शके प्रति सच्चा हो, स्वप्नके प्रति खरा हो । उसका आदर्श ही अमर होकर विराजे, पूजनीय हो,—इसीमें लेखककी संतुष्टि है सफलता और सार्थकता है ।

मेरी इच्छा है कि जो लेखक बने वह पाठकको वह दे जो उसके पास अधिकसे अधिक मार्मिक है, स्वच्छ है और बृहत् है ।

सम्पादकके प्रति

(' विद्या ' के सम्पादकको)

भाई, आपका पत्र मिला, क्या यह जबर्दस्ती नहीं है कि आप जो माँगें वही मुझे देना हो ? आप कहानी चाहते हैं । तत्त्वको तात्त्विक ही न रहने देकर जब उसे व्यवहारगत उदाहरणका रूप दिया जाता है, तब वह कहानी बन जाता है । इसमें उसकी गरिष्ठता कम हो जाती है, रोचकता बढ़ती है । तत्त्व कुछ कठिन, ठोस, वजनदार चीज़ जँचती है । कहानीकी शकलमें वही हल्की, रंगीन, दिलचस्प काल्पनिक वस्तु बन जाती है ।

पर आपकी ' विद्या ' उत्कृष्ट कोटिकी होनेका संकल्प उठाकर आनेवाली है । ऐसी हालतमें, मैं शिद्दितों और विद्वानोंका अपमान नहीं करूँगा, अर्थात्, कहानी नहीं लिखूँगा । और, कुछ ऐसे शब्द ही लिख सकूँगा जो शिद्दितोंकी शिक्षाके अनुरूप बेरंग हों और भूलें भी सरल न हो ।

सच यह है,—दुनियाँमें द्वन्द्व दिखाई देता है । मनमें भी द्वन्द्व है, बाहर भी द्वन्द्व है । बाहरके द्वन्द्वको कुछ लोग व्यक्तियोंकी लड़ाई समझते हैं, कुछ वर्गों और जातियोंका संघर्ष मान लेकर अपना समाधान करते हैं । कुछ और विचक्षण लोग उसे सिद्धान्तोंकी लड़ाई समझते हैं । वे लोग, राजाओं और राजवंशोंके कृत्योंकी तारीखोंसे भरे हुए इतिहासको पढ़ पढ़कर, उसमेंसे सिद्धान्त निकालते हैं । इतिहास, उनके निकट, अमुक सिद्धान्त, अमुक तत्त्वके क्रम-विकासको संपन्न करनेवाली अतीत क्रियाका नाम है । उस तमाम इतिहासमें उनके निकट एक अनुक्रम है, निश्चित निर्देश है, एक तर्क है ।

ये सब ठीक है; और, जो दुनियाको व्यक्तिके अर्थ रखनेवाली मानें वे उनसे ग़लत क्यों है ? जो व्यष्टिको समष्टिके प्रयोजनार्थ समझते हैं वे ग़लत क्यों है ? और वे ग़लत क्यों है जो इतिहासका तमाम तत्त्व इसमें समझते हैं कि हम जानें कि अमुक राजा किस सन्में मरा और फ़लों लड़ाई किस सन्में लड़ी गई ?

सब बात अपनी अपनी भूमिका और अपनी अपनी दृष्टिको है । और जो द्वन्द्व इस घोरताके साथ घट-घटमे व्याप रहा है उसे मैं सत्-असत्का द्वन्द्व कहकर समझूँ, इसमें मुझे सुख मिलता है । साहित्यमें भी सत्-असत्की लड़ाई है । असत् कहनेसे यह न समझा जाय कि जिसमें बल नहीं है वह ही असत् है । नहीं । बल्कि, मात्र आँखोंसे देखें तो बात उल्टी दीखेगी । क्रोधमें जो बल है, शान्तिमें कहाँ है ? और हिंसाका प्राबल्य किसने नहीं देखा ? अहिंसाको कौन मानेगा कि वह उससे चौथाई भी प्रबल है ? लेकिन, फिर भी, हम क्रोधको कहेंगे असत्, हिंसाको कहेंगे असत् ।

किसीको असत् कह कर व्यक्तिके ऊपर जिम्मेदारी आ जाती है कि वह सिद्ध करे, अपने आचरण और उदाहरणद्वारा प्रमाणित करे, कि जिसको उसने सत् माना है वह उससे कहीं शक्तिशाली है—अर्थात् क्रोध शान्तिकी शक्तिके सामने अपदार्थ है और हिंसा अहिंसाकी सात्त्विक शक्तिके आगे सदा ही पराजित है ।

मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि इस सत्-असत्के युद्धमें साहित्यिक सत्के पक्षमें अपनेको खपायेंगे; यानी, लिखेंगे तो उसपर आख़ूढ़ भी होंगे । इस भावनाके साथ—

नवंबर १९३४

आपका
जैनेन्द्रकुमार

आलोचकके प्रति*

कई बातें जो आलोचकको उलझाती हैं अपनी खातिर इतनी ध्यान देने योग्य नहीं हैं।—उन्हें जल्दी पार कर लें।

पहली बात है भाषा। भाषापर मैं किसीको रोकना नहीं चाहता हूँ। भाषा है माध्यम,—मन उलझा है तो भाषा सुलझी कैसे बनेगी ? इसलिए, भाषाके निमित्तको लेकर भी ध्यान यदि मनका रक्खा जाय, तो क्या उत्तम न हो ? मनके भीतरसे भाषाका परिष्कार स्थायी होगा। पर, एक काठिनाई भी है। वह यह कि गहन गहराईमें उतरकर चलना ऐसा सरल नहीं होता जैसा ऊपर मैदानमें चलना। लिखना क्यों है ? अपने भीतरकी उलझनोंको खोलनेके लिए ही तो वह है।—वहाँ भीतर बड़ी अँधेरी गलियाँ हैं,—वहाँ प्रकाश हो जाय तो बात ही क्या ? इससे, वहाँ पैठकर राह खोजनेवालेकी गति कुछ धीमी या कुछ दुर्बोध या चकरीली-सी हो जाय तो क्षम्य मानना चाहिए। यह उसके लिए गर्वकी बात नहीं है, लाचारीकी बात है।

आलोचकको एक नई कृतिमें भाषाके प्रयोग कहीं कुछ अनहोनेसे लगेंगे ही। ऐसा न होना चिंताका विषय हो सकता है, होना तो स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। उसकी वह अद्वितीयता खुरचकर मिटानेसे भी बाहरसे और भीतरसे नहीं मिट सकती। राह यही है कि विनम्र भावसे उस अद्वितीयताके साथ

* 'सुनीता' की आलोचना करनेवाले आलोचकको लक्ष्य करके लिखा गया।

समझौता कर लिया जाय । उससे विरोध नहीं ठाना जा सकता । परन्तु, भाषाके प्रयोग मनमाने हों और चौकानेके लिए हों तो बुरा है । पाठकको चौकाये, इसमें तो लेखकका अहित ही है,—चौकाकर वह किसीको अपना मित्र नहीं बना सकता । फिर भी, यदि चौका देता है तो उसे क्षमाप्रार्थी भी समझिए,—इसे अकुशलताका परिणाम मान लेना चाहिए । अगर, अपनी ओरसे कहूँ कि वह आप्रहका परिणाम नहीं है, तो पाठकको इसे असत्य माननेका आप्रह नहीं करना चाहिए ।

भाषापर मैं क्वचित् ही ठहरता हूँ । राह दीर्घ है, यहाँ ठहरना कहाँ ? जब ठहरनेका अवकाश नहीं है तब सोच-विचार कहाँसे हो कि भाषाको ऐसा बनाओ अथवा ऐसा न बनाओ । बनानेसे भाषाके बिगड़नेका अँदेशा है । सोचकर चलनेसे भाषापर व्यक्तिका अहंकार लद जाता है । यो भाषा बढ़िया भी लगे, पर, कृत्रिम हो जाती है । बढ़िया-घटिया तो फैशनकी बातें हैं । फैशन बदलता रहता है । बढ़ियापनका लालच पाकर मैं कृत्रिम भाषा पाठकको कैसे दूँ ? यदि मैं पूर्ण तरह परिष्कृत नहीं हूँ तो यह मेरा अपराध है; पर, जो हूँ वही रहकर मैं पाठकके समक्ष क्यों न आऊँ ? बन-ठनकर कैसे आऊँ ? पाठकका तिरस्कार मुझे सह्य होगा; पर, पाठकको धोखेमें मैं नहीं रखूँगा । यह विश्वास रक्खा जाय कि मैं सुगम होना चाहता हूँ, क्योंकि, पाठकसे घनिष्ठ और अभिन्न होना चाहता हूँ ।—साधारण और स्वच्छ रहना चाहता हूँ, क्योंकि, अपने और सबके प्रति संभ्रमशील रहना चाहता हूँ । दर्प दयनीय है । तब, मैं भला किसकी रुचिको चुनौती देनेकी ठानूँ ?

एक बात और भी । किताबोंमें प्रेसकी भूले भी होती है । वे ऐसी दक्षतासे किताबमें अपनी जगह बना लेती है कि अति सावधान

पाठक भी उन्हें नहीं पकड़ सकता । वे वहाँ वाक्योंके बीचमे जम बैठती हैं और मनमानी करती है । दूसरे यह, कि हिंदीमें पंक्चुएशन किसी निश्चित और अनुकूल पद्धतिपर अभी नहीं जम पाया है । उसे स्थिर होना चाहिए । भाषाको वशमें लानेके लिए वह आयुध हिन्दीमें अभी पूरा काम नहीं देता ।

फिर यह, कि प्रत्येक परिचयमें कुछ नवीनता होती है । परिचयकी प्रथमता धीरे धीरे जब दूर होगी तब भाषाके पहनावेपर ध्यान गौण होता जायगा,—उसकी आत्माके साथ घनिष्ठता बढ़ेगी । यहाँ घबराहट उचित नहीं है; क्योंकि, पहनावा ही आदमी नहीं है, अतः, वह वृत्ति भली नहीं है जो नवीनताको शनैः शनैः पककर अपने साथ घनिष्ठ नहीं होने देना चाहती ।

अपने लेखन-कालमें पाठककी हैसियतसे मैंने एक बात सीखी है । वह यह कि जगत्के प्रति विद्वान् बनकर रहनेसे कुछ हाथ नहीं लगता । जो पाना चाहता हूँ वह, इस भाँति, कुछ दूर हो जाता है । जगत्के साथ विद्वत्ताका नाता मीठा नाता नहीं है । विद्वान्के निकट जगत् पहेली हो जाता है,—जगत् अज्ञेय बनता है, और विद्वान्, उसी कारण, उसे स्पर्द्धा-पूर्वक ज्ञेय-रूपमें देखता है । फलतः, विद्वान्में एक रसहीन कुण्ठा और धारदार आग्रह पैदा होता है । जगत् उसके लिए प्रेमकी और आनन्दकी चीज़ नहीं हो पाता । विद्वान् प्रत्याशा बाँधता है कि जगत् उसकी थियरीमें,—उसके 'वाद'में, चौखूँट बैठ जायगा; पर, ऐसा होता नहीं और विद्वान् अपनी प्रत्याशाओंमें विफल अतः जगत्के प्रति रुद्ध और रुष्ट रहता है । विद्या-गर्वके ऊपर जीवन जीनेकी यह पद्धति सम्पूर्णा नहीं है ।—यह सच्चिदानन्दकी ओर नहीं ले जाती ।—उपलब्धिकी यह राह नहीं । अपना एक 'कोड'

बना लिया जाय और दुनियाके प्रति अधीर और असन्तुष्ट रहा जाय कि वह क्यों सीधे तौरपर उस 'कोड'में बँधकर नहीं बैठती है,—ऐसे क्या मिलेगा ? इस मनोवृत्तिमें सुधारका नशा मिल सकता है, पर, किसी हित अथवा किसी विद्याकी अभिवृद्धि इस भाँति कठिनतासे ही हो सकती है ।

इस वृत्तिसे पाठक बचे तो ठीक । उसे रसग्राही वृत्ति चाहिए । वह अपनेको खुला रखे,—जमकर निर्जीव बन गई हुई धारणाएँ अपने पास न रखे । विद्वत्ताका बोझ बोझ ही है । उससे जीवनानन्दके प्रति खुले रहनेकी शक्ति ह्रस्व होती है ।

मैंने अपने सम्बन्धमें पाया है कि जब जब चीज़को स्पर्द्धापूर्वक मैंने अधिकृत कर लेना चाहा है, तभी तब मेरी दरिद्रता ही मुझे हाथो लगी है । और जितना मैंने अपनेको किसीके प्रति खोलकर बहा दिया है उतना ही परस्परके बीचका अन्तर दूर हुआ है और एकता प्राप्त हुई है । ऐक्य-बोध ही सबसे बड़ा ज्ञान है, और तबसे मैंने जाना है कि आत्मार्पणमें ही आत्मोपलब्धि है, आयह-पूर्ण संग्रहमें लाभ नहीं है ।

एक और तत्त्व ज्ञातव्य है ।—कुछ भी, कोई भी, अपने आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं है । कोई कथन अपने शब्दार्थमें और कोई घटना अपने सीमित अर्थमें सार्थक नहीं होती । सबका अर्थ विस्तृत है,—वह अर्थ निस्सीममें पहुँचनेके लिए है ।—उसी ओर उसकी यात्रा है । इससे, सब-कुछ मात्र संकेत रूपमें,—इंगित रूपमें, ही अर्थकारी है । समग्रसे टूटकर अपने खंडित गर्भमें वह निरर्थक रह जाता है । निरर्थक ही क्यों,—इस भाँति वह अनर्थक भी है । इसलिए, प्रत्येक

विवरणको, जहाँ तक हो वहाँ तक, मूल जीवन-तत्त्वके साथ योग-युक्त देखना होगा ।

पुस्तकमे भी यही बात है । हर बात वहाँ पात्रकी मनोदशाकी अपेक्षामे आशय-युक्त बनती है । पात्रकी मनोदशाको व्यक्त, अर्थात् पुस्तकगत जीवन-तत्त्वको उद्घाटित, करनेके लिए जो आवश्यक नहीं है वह वर्णन परिहार्य है । ऐसा मोह न लेखकको भला, न पाठकको उचित । ‘ यह और भी लिख दूँ,—कैसा अच्छा आइडिया है !—अरे ! आगे क्या हुआ ? फिर क्या हुआ ? हमे यह लेखकने बीचमें कहाँ छोड़ दिया ! ’—इस तरहकी बाते मोहजन्य है । अपने आपमें कुछ उल्लेखनीय नहीं है । जो सर्वाशतः पुस्तकके प्राणके प्रति समर्पित और सम्मुख नहीं है वह वर्णन बहुमूल्य होनेपर भी त्याज्य बनता है । ऐसे बाह्य वर्णनपर लेखक अपनी लुब्ध दृष्टि कैसे डाल सकता है ? इस भाँति, स्पष्ट है कि, बड़ीसे बड़ी वस्तु भी अनुपयोगी और छोटीसे छोटी घटना भी व्यक्ति और ग्रंथके जीवनमें विराट्-आशय बन सकती है । तुच्छ इस सृष्टिमें कुछ भी नहीं; किन्तु, यह सृष्टि इतनी अछोर, अपार, अनंत है कि यहाँ बड़ीसे बड़ी चीज़ भी अपने आपके गर्वमें उपहासास्पद हो जाती है ।

यहाँ साहित्यकी मर्यादा भी हम समझें । पुस्तकमें और हमारी आँखोंके सामनेके ठोस जगतमें अन्तर है । पुस्तक दर्पण नहीं है । साहित्य ज्योका त्यों बाज़ारी दुनियाके प्रतिबिम्बको अंकित करनेके लिए नहीं है । इस दृष्टिसे साहित्य विशिष्टतर है,—यह विशिष्टता उसकी मर्यादा भी है । साहित्यके नायक और पात्र दुनियाके आदमीकी तुलना नहीं कर सकते । यहाँ दीन-हीन आदमी भी मन-भरसे ऊँचा तुलता है

और पुस्तकोंके महापुरुष मिलकर भी तराजूमें फूँक जितने भी नहीं तुल सकते। फिर भी, वे सत्यतर हो, तो यह कम सत्य नहीं है।—इस अन्तरको खूब समझ लेना चाहिए। पुस्तकोंके पात्र अशरीरी होते हैं,—हमारी भावनाएँ ही हैं उनका शरीर।—यो एक ही दम सामाजिक मनुजसे वे अतुलनीय हो जाते हैं। वे नहीं दीख सकते, क्योंकि, जब शरीर उनके पास नहीं है। फिर भी, वे सतत रूपसे हमारे सामने हैं, हमारे भीतर हैं और अमर हैं,—ठीक इसीलिए कि वे पंच-भूतजड़ित नहीं हैं। उनका अस्तित्व मानसिक है, उनका जीवन-तर्क हमारी जीवन-नीतिसे भिन्न है, वह और ही तलपर हैं और हमारे मनोविज्ञान-शास्त्रका बंधन उनपर नहीं है। हमारी संभव-असंभवकी मर्यादा भी उनपर लागू नहीं है। वे हमारी ही कृति हों और हैं, पर, हमसे कहीं चिरजीवी सूक्ष्मजीवी हैं। वे हमारी Rarefied वृत्तियाँ हैं जो हमारे भीतर घिरी नहीं हैं, बाहर भी नहीं हैं। देखा जाय, तो भीतर और बाहरसे हम ही उनमें घिरे हैं। साहित्यमें भूत हो सकते हैं और परियाँ भी हो सकती हैं। वहाँ चर-अचर, मानव-अमानव, समाज और प्रकृति, देवता और दैत्य,—सब हो ही नहीं सकते प्रत्युत सब आपसमें एक-एक भी हो जा सकते हैं। गूँगी पृथ्वी अपनी सूनी, फटी, तप्त आँखोंसे ताकती रहकर काले रोषसे घुमड़ते हुए बिजलीसे भरे आसमानमेंसे झर झर आँसू खींच ला सकती है और उस आदमीको अपनी अथाह करुणामें क्षमा कर सकती है जो इन आँसुओंमें झरती पीरको बस, वारिश कहकर विद्वान् बना बैठा है। वहाँ समन्दरकी मछली उड़कर सातवें आसमानमें बैठे परमात्माके पास भी फरियाद ले जा सकती है और न सुननेपर घोषणा कर

सकती है कि परमात्मा दयालु नहीं है।—यह सब कुछ हो सकता है। जो अपनी विज्ञानकी खोजमें सच्चा है, वह जानता है कि मानव परिमित है, पंगु है। वह जानता है कि जो 'मानवीय' है झूठ है, और झूठका सहारा लेकर ही बेचारा मानव सत्यकी ओर बढ़ सकता है। समस्त ज्ञान छल-ज्ञान है। यहाँ सत्यामिमुखता ही सत्य है।

आशय मेरा, झूठकी बढ़ाईसे पाठकको आतंकित करना नहीं है। सीमित धारणाओंमेंसे उठाकर पाठकको असीममें पटक देने जैसी भी इच्छा नहीं है। हमारा वहाँ वश भी नहीं। उद्दिष्ट मात्र यह दिखाना है, कि हम अपनी सीमिता सत्यपर जब ओढ़ाते हैं तब मानो अपनी ही तुच्छता स्वीकार करते हैं। यदि हम असीमको और अरूपको स्वरूपवान् बनाकर ही हृदयंगम कर सकते हैं, तो अवश्य ऐसा करें। ऐसा करे बिना गति कहाँ ? पर, हमारा सब-कुछ मात्र इस प्रतीतिके पारस-स्पर्शसे स्वर्ण बन जाता है कि हममें अव्यक्त ही व्यक्त हो रहा है, हमारे ज्ञान-विज्ञानकी यात्रा अज्ञेयकी ओर है। यह प्रतीति नहीं तो हमारा सब-कुछ मिट्टी ही है।

इसीसे जिज्ञासा एक वस्तु है स्वप्न और। साहित्य मर्यादा-हीनता नहीं है, जिज्ञासा संशय नहीं है। पुस्तकके पात्रोंमें उनकी अपनी ही एक एक मर्यादा होती है। उनका तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है। मनोविज्ञानकी किसी प्रवेशिकामेंसे उनका नियामक नियम नहीं निकाला जा सकता। यदि पुस्तकके चरित्र हमारी इस दुनियाके आदमियोंके अनुरूप चलते दीखते हैं तो इस हेतु नहीं कि वैसी अनुरूपता उनका लक्ष्य है, प्रत्युत, केवल इसलिए कि उस

अनुरूपताके सहारे लेखक अपनेको दुनियाके उन लोगोके निकट और उन्हें अपने निकट पहुँचाना चाहता है। किन्तु, साहित्यकी प्रेरणा आदर्श है। जब तक वह है (और वह तो सर्वथा सनातन है), तब तक चरित्र आदर्शानुगामी होंगे, जगदनुगामी नहीं भी हो सकते हैं। उनका हक है कि वे सामान्य पथपर न चलें, सामान्यतया साधारण न हों, किसी भी परिचित पद्धतिका समर्थन न करे और दुस्साहसिक होकर भी उर्द्वगामी बने।

इस स्थलपर वे शब्द दोहराये जा सकते हैं जो 'सुनीता' पुस्तककी प्रस्तावनामें आ गये हैं; वे बहुत कामके माध्यम होते हैं।

'....पुस्तकमें रमे हुए लेखकको जैसे चाहो समझो, किसी पात्रमें वह अनुपस्थित नहीं है और हर पात्र हर दूसरेसे भिन्न है। पात्रोंकी सब बातें लेखककी बातें हैं, फिर भी, कोई बात उसकी नहीं है; क्योंकि, उसकी कहाँ?—वह तो पात्रोंकी है। कहानी सुनाना लेखकका उद्देश्य नहीं। (उन सबका नहीं जो अपने साहित्यमें जीवन-लक्ष्यी है।) इस विश्वके छोटेसे छोटे खण्डको लेकर चित्र बनाया जा सकता है। उस खंडमें सत्यके दर्शन पाये जा सकते हैं और उस चित्रमें उसके दर्शन कराये भी जा सकते हैं। जो ब्रह्माण्डमें है वह पिण्डमें भी है।....थोड़ेमें समग्रताको दिखाना है....।'

असल बात उस भाँकीको देना और लेना है जिसको लेकर अक्षर शब्दमें खो गये हैं,—शब्द वाक्योंमें और वाक्य पुस्तकके प्राणोंमें। अपने आपमें वाक्य भी निरर्थक है, शब्द भी निरर्थक हैं, अक्षर भी निरर्थक हैं। वे अपनेमें ग़लत भी नहीं हो सकते, सही भी नहीं हो सकते। वे वही हो सकते हैं जो हैं; और वे मात्र जड़ हैं।

की सार्थकता उस जीवन-तत्त्वके वाहन होनेमें है जिसकी सेवामें नेयोजित हैं ।

वह जीवन-तत्त्व मनोविज्ञानिक नहीं है । वह व्यवहारसिद्ध नहीं, स्वभावसे घिरा नहीं । वहाँ हमारा ज्ञान-विज्ञान लय होता है, नदियाँ समुद्रमें लय हो जाती हैं । वही इन सबको फिर पोषण देता है, पर, वह इन सबसे अतीत है, इनकी रक्षाके दायित्वसे परिबद्ध नहीं है, क्योंकि, वह तो उनकी आत्मा है ।

पुस्तकके भौतिक विवरण भी इसी भाँति स्वाधीन समझे जावें से सजीव पात्र । पुस्तकका हरिद्वार (प्रेमचंदकी 'कर्मभूमि'का) गोलवाला हरिद्वार नहीं है । ह्यूगोका पैरिस फ्रांससे अधिक ह्यूगोका । वह नकशेमें नहीं हो सकेगा, क्योंकि, वह ह्यूगोके मनमें ही होने लयक था । किन्तु, नामोंमें क्या है ? पैरिसका वर्णन देनेवाली हर ई पुस्तिका तो अपने लेखकको ह्यूगो नहीं बना दे सकती । इससे, चित है कि, पाठक इनपर अटके नहीं । इस प्रकारकी स्थान-रूपकी माणिकता कोई बहुत अंतिम वस्तु नहीं है ।

ये ऊपरी बातें हैं । वैसी त्रुटियाँ तो होती ही हैं । कहाँ वे नहीं होती ? खंडित करके देखा गया चित्र धब्बोके अतिरिक्त क्या लीखेगा ? प्रत्येक लेखक अपने लेखमें वर्कमैनशिपकी ऐसी अनेक मूल्योंको आलोचकके हाथों स्वयं गिरफ्तार करा दे सकता है । सच लुजा जाय तो इस दृष्टिसे सब-कुछ भूल ही है । ठीक Perspective पास न हो तो कौन चित्र असुन्दर नहीं है ? पर, इस प्रकारकी त्रुटियाँ लेखककी चिन्ताका विषय नहीं हैं । आलोचकके लालचका विषय भी उन्हें नहीं होना चाहिए । जिसके लिए आलोच्य विषय

कलेवर है, लेखकका हृदय उसकी ओर भूखी निगाहोंसे देखता रह जाता है। कलेवरके भीतरसे तो भाँक हृदय रहा है। वह हृदय अपनी स्वीकृति चाहता है, वह अपनेको पहिचनवाना चाहता है। जो कलेवर लेकर उसीके साथ शल्य-क्रिया करते और हृदयको छूछा समझ छोड़ देते हैं, उनको कृतज्ञ दृष्टिसे देख सकनेके लिए वह हृदय तरसता ही रह जाता है।

एक आलोचकने रविबाबूके 'घर और बाहर'का जिक्र किया। मुझे इससे खुशी हुई। दिन हुए मैंने वह पुस्तक पढ़ी थी। तब मेरा लिखना आरम्भ न हुआ था। मुझे अब भी उसकी याद है। वेशक जो 'घर और बाहर'में है वही 'सुनीता'में भी है।—वही समस्या है। अनजाने ऐसा नहीं हो गया है, जान-बूझकर ऐसा हुआ है। किन्तु, 'घर और बाहर'की समस्या रविबाबूकी समस्या तभी तो बनी, जब कि वह जगत्की समस्या है। उसे उस रूपमें रविबाबूसे पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया, और पीछे भी लोग लेंगे। जगत्की केन्द्रीय समस्याको व्यक्ति-हृदयकी परिभाषामें रखकर जब भी देखा और सुलझाया जायगा, तब उसका वही रूप रहेगा।

समस्या सदा तिखूँट है। जगतमें मूल पक्ष दो हैं—'स्व' और 'पर'। 'स्व', यानी 'मैं'। 'मैं', अर्थात् भोक्ता और ज्ञाता। 'पर' अर्थात् भोग्य और ज्ञेय। अपनेको भोक्ता मानकर अपनी भोग्य बुद्धिके परिमाणके अनुसार 'मैं' 'पर'को फिर दो भागोंमें बाँट डालता हूँ—पहला जो मेरा है, दूसरा जो मेरा नहीं है। इसी स्थानपर समस्या बन खड़ी होती है। जिसे 'मेरा' माना उसपर मैं

कब्जा चाहता हूँ, जो 'मेरा' नहीं है उससे विरोध ठानता हूँ। इस भाँति, 'मैं' जीता और बढ़ता हूँ।—यही जीवनकी प्रक्रिया है।

असलमें 'स्व' और 'पर'का विभेद माया है। जीवनकी सिद्धि उनके भीतर अभेद-अनुभूतिमें है। पर अभेद कहनेहीसे तो संपन्न नहीं हो जाता,—उसीके लिए है साधना, तपस्या, याग-यज्ञ। जाने अनजाने प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धिकी ओर बढ़ रहा है। कुछ लोग वस्तु-जगत्को अपने भीतरसे पाना चाहते हैं, दूसरे उसे बाहरसे भी ले रहे हैं। संसारमें इस प्रकारकी द्विमुखी प्रवृत्तियाँ देखनेमें आती ही हैं जिन सबके भीतरसे 'स्व' विशद ही होता चलता है,—'मेरा'का परिमाण संकीर्ण न रहकर विस्तृत ही होता है। जितना वह 'मैं' विशद और विस्तीर्ण होता है, अहंकारके भूतका जोर उसपरसे उतना ही उतरता जाता है।

'मैं' और 'मेरा' इन दोनोंको मिलाकर व्यक्ति अपना घर बनाता है। उस घरमें व्यक्ति अपना विसर्जन देता और शेष विश्वसे आहरण करता है।—दुनियामेंसे कमाता है, घरमें खर्च करता है; जगत्से लड़ता है, घरकी चौकसी करता है; संसारपर अपनी शक्तिका परीक्षण करता है, घरमें प्रेमका आदान-प्रदान। घर उसके लिए हाट नहीं है। इस 'घर'का ही नाम विकास-क्रमसे परिवार, नगर, समाज, जाति, राष्ट्र आदि होता है।

इसलिए, अगर समस्याको आब्जेक्टिव विज्ञानकी राहसे नहीं सब्जेक्टिव कला और हृदयकी राहसे अवगत और आयत्त करना है, तो उसका यही तिखूँट रूप होगा—मैं, मेरा, मेरा नहीं।

अब यहाँ एक और भी तत्त्व है जिसे मैं अपना मानता हूँ;

अर्थात्, मेरी संपत्ति, मेरी चीज़ आदि,—वह भी अपने आपमें अहं-शून्य नहीं है। उसमें भी सब्जेक्टिविटी है। फिर भी, जो अंश मेरा बन चुका है उसकी सब्जेक्टिविटी कुछ अनुगत हो गई हुई है। इसीसे, समस्याके चित्रणमें मानव-सम्बन्धोंकी अपेक्षा ‘मेरा’का प्रतीक बन जाती है पत्नी। पत्नी घरका केंद्र है। वह ‘मेरी’ है पर स्वयं भी है, अनुगत है पर जड़ पदार्थ नहीं है,—सहृदय है और उसमें भी व्यक्तित्व है।

इन स्वामी और पत्नीके साथ ही, किसी कदर उनके बीचमें, आता है तीसरा व्यक्ति जो ‘पर’का प्रतीक है। वह भी एकदम अपरिचित नहीं है (अपरिचित कैसे हो सकता है मला ?) प्रत्युत स्पृहणीय है, और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रबल है।

कवि रवीन्द्रने ‘घर’में ‘बाहर’का प्रवेश कराया। ‘घर’ इससे विक्षुब्ध हो उठा है। वहाँ ‘बाहर’ संदीपके रूपमें अनिमंत्रित है पर प्रबल है। ‘घर’की विक्षुब्धता गहन होती जाती है; मानो, ‘बाहर’के धक्केसे घर टूट जायगा। ‘बाहर’का धक्का दुर्निवार है, सर्वग्रासी है। समस्या घोरतरसे घोरतम होती जाती है। तब क्या होता है ?—तब कुछ होता है जिससे समस्या बन्द हो जाती है। संदीप पलायन कर जाता है। पत्नी मुड़कर पतिके प्रति क्षमाप्रार्थिनी बनती है और फिर पत्नीत्वमें अधिष्ठित होती है। एवं, मानो तय होता है कि, ‘घर’को ‘बाहर’के प्रति निरभिलाषी विमुख होकर ही बैठना होगा।

‘कवि’की लेखनीकी समता ही क्या ! वह अतुलनीय ही है। पर मेरे मनको समाधान नहीं मिला। ‘घर’ अपने आपमें अपनेको ‘बाहर’के प्रति दुष्प्राप्य और प्रतिकूल बनाकर बैठे और उस

‘बाहर’को सर्वथा बहिष्कृत और विरुद्ध बनाये रखे,—क्यों यह समाधान है ? क्या यह सिद्धि है ? यहाँ अमेद कहाँ है, यहाँ तो भय है। प्रेम कहाँ है, यहाँ तो अप्रेम भी है ।—ऐसा हो तब तो समस्या ही क्या हुई ! ऐसा कुछ समाधान क्या चिर-प्राप्त अहंसिद्ध कंजर्वेटिव समाज-नीतिमेंसे भी नहीं प्राप्त हो सकता ?

सो, मनके इस तरहके असंतोषका भी ‘सुनीता’के जन्ममें प्रभाव है । मैंने ‘सुनीता’में अपनी बुद्धिके अनुसार दुस्साहसपूर्वक भी समस्याको ठेलकर आगे बढ़ाया है । मैंने इसमें अपनेको बचाया नहीं है और वहाँ तक मैं उसके साथ चला हूँ जहाँ तक समस्याने चलना चाहा है ।

क्या ‘सुनीता’का ‘घर’ टूटा है ? नहीं, वह नहीं टूटा । क्या उस ‘घर’को ‘बाहर’के प्रति बंद किया गया है ? नहीं, ऐसा भी नहीं । दोनोंमेंसे कौन किसके प्रति सहानुभूतिसे हीन है ? शायद कोई भी नहीं ।

दोनों शाश्वत रूपमें क्या परस्परापेक्षाशील नहीं हैं ?

मैंने, चुनाँचे, समस्याके रूपमें भी कुछ भिन्नता देखी और रखी है ‘बाहर’को निरे आक्रमणके रूपमें मैंने ‘घर’के भीतर नहीं प्रविष्ट किया । हरिप्रसन्न (पुस्तकमें वही ‘बाहर’का प्रतीक पुरुष है) किंचित् प्रार्थी भी है । वह निरा अनिमंत्रित वहाँ नहीं पहुँचा, प्रत्युत् वहाँ मानो उसकी अभीष्टता है । उसके अभावमे ‘घर’ एक प्रकारसे प्रतीक्षमान् है । वहाँ अपूर्णता है, वहाँ अवसाद है,—मानो उस ‘घर’में ‘बाहर’के प्रति पुकार है । इधर हरिप्रसन्न स्वयं अपने आपमें अधूरेपनके बोधसे मुक्त नहीं है; और वह जैसे

एक प्रकारके उत्तरमे और एक नियतिके निर्देशसे ही एक रोज अनायास 'घर'के बीचमें आ पहुँचा है। पहुँच कर वह वहाँ स्वत्वारीपी लगभग है ही नहीं। अपनेसे विवश होकर ही जो है सो है।

कवीन्द्रका 'घर' भिन्न है और 'बाहर' भी भिन्न है। वह 'घर' आत्म-तुष्ट-सा है, मानो 'बाहर' उसके निकट अभी अनाविष्कृत है। 'बाहर'का आगमन वहाँ एक रोज अप्रत्याशित अयाचित घटनाके रूपमें होता है। वह संदीप मित्र है; पर, यह मित्रत्व उसके व्यक्तित्वका अप्रधान पहलू है। मानो मित्र होना उसे मात्र सख है। वह आग्रहशील है, अधिकारशील है,—मानो सहानुभूतिशील है ही नहीं। घरकी रानीका संदीपको ओर खिंचना स्पष्ट गिरना है। जैसे संदीप अहेरिया है, जाल फैलाता है, और मक्खी फँसनेको ही उस ओर खिंच रही है। संदीप इस तरह कुछ अति-मानव,—अप-मानव हो उठता है।

तदनुकूल भिन्नता सुनीता और कविकी मधुरानीमें भी है। मधुरानी बीचमें मानो स्वलन-मार्गपर चलकर अन्तमे प्रायश्चित्तपूर्वक पति-निष्ठामे पुनः प्रतिष्ठित होती है। संदीपका गर्व खर्व होता है और मधुरानीकी मोह-निद्रा भंग होती है। संदीपके लिए पलायन ही मार्ग है; क्योंकि, मधुरानी अब पति-परायणा है।

सुनीताको पतिपरायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थलपर नहीं हुई है। कि प्रायश्चित्तका सहारा उसे दरकार हो। पतिमें उसकी निष्ठा उसे हरिप्रसन्नके प्रति और भी स्नेहशील और उद्यत होनेका बल देती है। आरम्भसे उसकी आँख खुली है और अन्त तक जो उसने किया और उससे हुआ है, उसमें वह मोह-मुग्ध नहीं है। आरम्भसे वह जागरूक है और कही गृहिणी-धर्मसे च्युत नहीं है। उस 'घर' में

अन्त तक इतना स्वास्थ्य है कि हरिप्रसन्नको हठात् स्मृतिसे दूर रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत, हरिप्रसन्नके प्रति सदा वह 'घर' अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रखेगा।

असलमें 'घर' और 'बाहर'में परस्पर सम्मुखता ही मैं देखता हूँ। उनमें कोई सिद्धान्तगत पारस्परिक विरोध देखकर नहीं चल पाता।

रवीन्द्र कवि है। अपनी भाव-प्रवणतामें मानवको उसके मानवीय कान्टेक्स्टसे उठाकर उसे अतिमानुषिक बना देनेकी उनमें क्षमता है। यह उनकी शैलीकी विशेषता है। यह उनकी दक्षता उपन्यास-पाठकके बूतेसे बड़ी चीज़ भी हो सकती है। नित्य नैमित्तिक जीवनके दैनिक व्यापारकी संकीर्णतासे कविके उपन्यासका पात्र सहज उत्तीर्ण है। दुनियाके धरातलसे उठकर कविके हाथों वह दार्शनिक भावनाओंके धरातलपर जा उठता है। वहाँ उसके लिए विचरण अधिक बाधाहीन और उसकी संभावनाएँ अधिक मनोरम बनती है।

पर, हर किसीको वह सामर्थ्य कब प्राप्त है? उपन्यासकारको तो कदाचित् वह अभीप्सित भी नहीं। 'सुनीता'के पात्रोंके पैरोंको मैं इस धरतीके तलसे ऊँचा नहीं उठा सकता। न वहाँ मेरी क्षमता है, न कांक्षा है। फिर भी, मैं उनके मस्तकको धूलमें नहीं लोटने दूँगा,—वे आसमानमें देखेंगे। इस दृष्टिसे सुनीताके पात्रोंका बनना असाधारण भी हुआ है। फिर भी, उनके चित्रणमें साधारणताके सम्मिश्रणकी कमी नहीं है। इससे 'सुनीता' पुस्तक अतिशय भावनात्मक नहीं हो सकी,—उसके अवयवोंमें पर्याप्त मात्रामें स्थूल साधारणता है।

खैर, वह जो हो। याद रखनेकी बात यह है कि हमारा ज्ञान आपेक्षिक है। वह अपूर्ण है। जगत्की विचित्रता उसमें कहाँ

अमाती है ? अपनेको मानव कब पूरा जान सका है ? जाननेको शेष तो रह ही जायगा । इसलिए, सदा वह घटित होता रहता है जो हमारे ज्ञानको चौंका देता है । Truth is Stranger than Fiction के, नहीं तो, और माने क्या है ? Truth को क्या यह कहकर बहिष्कृत करें कि वह ज्ञात नहीं है ? तब फिर बढ़नेके लिए आस क्या रखें ? जीवनकी टेक किसे बनावे ?

आलोचकके समक्ष मैं नत-मस्तक हूँ । सविनय कहता हूँ कि 'जी हाँ, मैं त्रुटिपूर्ण हूँ । आपको संतोष नहीं दे सका इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ । शायद, मैं आपकी चिन्ताके योग्य नहीं हूँ । पर जब आप जज हैं, तब अभियुक्त बने ही तो मुझे गुजारा है । क्या हम दोनों बराबर आकर मिल नहीं सकते ? मान लीजिए कि आप जज नहीं है, और भूल जाते हैं कि मैं अभियोगी हूँ, तब उस भाँति क्या आदमी आदमीकी हैसियतसे हम एक-दूसरेको ज़्यादा नहीं पायेगे ? मैं जानता हूँ, जजकी कुर्सीपर बैठकर अभियुक्तको कठघरेमें खड़ा करके उसके अभियोगकी छान-बीनका काम करनेमें आपके चित्तको भी पूरा सुख नहीं है । तब क्या चित्तका चैन ऐसी चीज नहीं है कि उसके लिए आप अपनी ऊँची कुरसी छोड़ दे ? आप उस कुर्सीपर मुझसे इतने दूर, इतने ऊँचे, हो जाते हैं कि मैं संकुचित होता हूँ । आप जरा नीचे आकर हाथ पकड़कर मुझे ऊपर तो उठावे, और फिर चाहे भले ही कसकर दो-चार फिड़कियाँ ही मुझे सुनावें । क्योंकि, तभी मेरे मनका संकोच दूर होकर मुझे हर्ष होगा । और तब, आप पायेंगे कि और कुछ भी 'हो, मैं आपका अनन्य ऋणी बना हूँ ।'

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—साहित्यका जीवनसे क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जीवनकी अभिव्यक्तिका एक रूप साहित्य है । कहा जा सकता है कि व्यक्ति-जीवनकी सत्योन्मुख स्फूर्ति जब भाषाद्वारा मूर्त और दूसरेको प्राप्त होने योग्य बनती है, तब वही साहित्य होती है ।

प्रश्न—क्या साहित्यके बिना जीवन अपूर्ण है ?

उत्तर—कहना पड़ेगा कि अपूर्ण ही है । अपूर्ण न होता तो साहित्य जन्मता ही क्यों ? यह तो जातिकी और इतिहासकी अपेक्षासे समझिए । व्यक्तिकी अपेक्षासे आप पूछ सकते हैं कि स्वप्नके बिना क्या व्यक्ति नहीं जी सकता ? असल बात तो यह है, कि स्वप्नके साथ भी व्यक्ति अपूर्ण है । क्या स्वप्न किसी क्षण भी सम्पूर्णताका आकलन कर सकता है ? पर वह सम्पूर्णताकी ओर उड़ता तो है, उसे छूता तो है; फिर भी, स्वप्नके योगके साथ भी व्यक्ति क्या अपूर्ण नहीं है ? स्वप्नके बिना तो है ही । तब, आप उत्तर यही समझें कि साहित्यके साथ भी जीवन सम्पूर्ण नहीं है । इतना अवश्य है कि साहित्यके बिना तो वह और भी अपूर्ण है । अपूर्णताका आधार लेकर जो सम्पूर्णताकी चाह प्राणीमें उठती है, वही साहित्यकी आत्मा है ।

प्रश्न—रोटी मुख्य है या साहित्य ?

उत्तर—यह सवाल तो ऐसा है जैसे यह पूछना कि जब आप पानी पीते हैं, तो हवाकी आपके लिए क्या ज़रूरत है ? आदमी सिर्फ पेट ही नहीं है । और मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि पेट भी वह चीज़ नहीं है जिसे सिर्फ रोटीकी ही ज़रूरत

हो,—हृदय बिना पेटका भी काम नहीं चलता । जब आपने रोटीके मुकाबिलेमे साहित्य रक्खा है, तो मैं समझता हूँ आपका आशय किसी जिल्द बँधी पोथीसे नहीं है । आशय उस सूक्ष्म सौन्दर्य-भावनासे है जो साहित्यकी जननी है । मैं तो उस स्थितिकी भी कल्पना कर सकता हूँ जब रोटी छूट जायगी, साहित्य ही रह जायगा । जातीय आदर्श रोटी नहीं है,—रोटीमें नहीं है । रोटी तो जीनेकी शर्त मात्र है । रोटी ही क्यों, क्या और प्राकृतिक कर्म नहीं है जो जीवनके साथ लगे है ? लेकिन, उनके निमित्त हम नहीं जीते और न उनके लिए हम मरते हैं । आदर्श रोटीमय नहीं है,—रोटी-सा पदार्थमय भी नहीं है । वह चाहे वायवीय ही हो, लेकिन, उस आदर्शके लिए हम मरते रहते हैं,—उसीमेसे मरनेकी शक्ति पाते हैं । साहित्य उस आदर्शको पानेका, उसे मूर्त करनेका, प्रयास है । रोटीके बिना हम कई दिन रह लेगे, हवाके बिना तो कुछ क्षणोंमें ही हमारा काम तमाम हो जायगा,—साहित्य उस हवासे सूक्ष्म, किन्तु, उससे भी अधिक अनिवार्य है । लेकिन, साहित्य और रोटीमे विरोध ही भला आपको कैसे सूझा ? वैसा कोई विरोध तो नहीं है । यह ठीक है कि जो रोटीको तरसता है उसके फ़ैले भूखे हाथोंपर साहित्यकी किताब रखना विडम्बना है । लेकिन, यह भी ठीक है कि भारतके भूखे कृषक-मज़ूर रामायणके पाठमेंसे रस लेते हैं । उनके उस रसपर प्रश्न करना, उसे छीन लेना, भी क्या निरा असम्भव नहीं है ? अन्तमें, मैं कहूँगा कि आपके प्रश्नमें संगति नहीं है । साहित्य आदमीसे सर्वथा अलग करके रखी जानेवाली चीज़ नहीं है । रोटीका अस्तित्व मनुष्यसे अलग है, साहित्यका वैसा अलग है ही नहीं ।



हिन्दी और हिन्दुस्तान*

भाइयो,

आपने इस संघके वार्षिकोत्सवपर इतनी दूरसे मुझे बुलाया, इसमें मेरे संबंधमें कुछ आपकी भूल मालूम होती है। आ तो मैं गया, क्योंकि, इनकार करनेकी हिम्मत मुझे नहीं हुई। लेकिन, अब तक मुझको आश्वासन नहीं है कि आपने मुझे बुलाकर और मैंने आकर सत्कर्म किया है।

लेकिन, जो हुआ हो गया। अब तो हम सबको उसका फल-भोग ही करना है। और इस सिलसिलेमें आपके समक्ष पहले ही यह कहना मेरी किस्मतमें बदा है कि मैं साहित्यका ज्ञाता नहीं हूँ; साहित्यमें विधिवत् दीक्षित भी नहीं हूँ।

लेकिन, साहित्य-सम्बन्धी उत्साहके बारेमें भी मेरा अनुभव है कि किन्हीं लौकिक हेतुओंपर टिककर वह अधिक प्रबल नहीं होता। लाभ और फलकी आशा मूलमें लेकर कुछ काल बाद वह उत्साह मुझमें भी लगता है। स्थूल लाभ वहाँ नहीं है। इसलिए, साहित्य-संबन्धी उत्साहको अपने बलपर ही जीवित रहना सीखना है। अंधेरेसे घिरकर भी बत्ती जैसे अपनी लौमें जलती रहती है और जलकर उस अंधकारके हृदयको प्रकाशित करती है, उसी भाँति, उस उत्साहको अपने आपमें जलते रहकर स्व-परको प्रकाशित करना है। साहित्यका यही विलक्षण सौभाग्य है,—दुर्भाग्य इसे नहीं मानना चाहिए। अमान्यताके बीचमें वह पलता और जीता है, फिर भी,

* सुहृद्-संघके (मुजफ्फरपुर) वार्षिकोत्सवपर दिया गया भाषण।

जाय ? इसमें हिन्दीके वर्तमान रूपपर,—आजकी बनावटपर, निस्सन्देह बहुत दबाव पड़ेगा । लेकिन, जिसको बड़ा बनाया जाता है उसको उतना ही अपना अहंकार छोड़कर सबका आभार स्वीकार करना होता है । इसी तरह, जब हिन्दीके कंधोंपर भारी दायित्व आ गया है, तब उस हिन्दीको अपना जीवन सर्व-सुलभ, विशद और निराग्रही बनानेमें आपत्ति नहीं करनी होगी । उसे अपने योग्य ऊँचाई तक उठना होगा । और, जो हिन्दीका साहित्यकार इस विषयमें जाग्रत् न होकर आग्रही होगा, मुझे भय है कि वह राष्ट्र-भाषा हिन्दीसे की जानेवाली प्रत्याशाएँ पूरी न कर सकेगा ।

अब दिन दिन हमारे जीवनका और अनुभूतियोंका दायरा बढ़ता जाता है । हमारी चेतना धिरी नहीं रहना चाहती । हम रहते हैं तो अपने नगरमें, पर जिले और प्रान्तके प्रति भी आत्मीयता अनुभव करते हैं । इसके आगे हमारा देश भी हमारे लिए हमारा है । उसके भी आगे अगर हम सच्चे हैं और जगे हुए हैं, तो इतनेमें भी हमारी तृप्ति नहीं है । हम समूची मानवताको, निखिल ब्रह्मांडको, अपना पाना चाहते हैं । ‘हम सबके हों’, ‘सब हमारे हों’—यह आकांक्षा गहरीसे गहरी हमारे मानसमें बिधी हुई है । यह आकांक्षा अपनी मुक्ति-लाभ करनेकी ओर बढ़ेगी ही । उस सिद्धिकी ओर बढ़ते चलना ही सच्ची यात्रा और सच्ची प्रगति है ।

अब निरन्तर होती हुई प्रगतिके बीच बिल्कुल भी गुंजाइश नहीं है कि हम अपनेको समस्तसे काटकर अलहदा कर लें । वैसी पृथक्ता भ्रम है, झूठ है । और जहाँ उस पार्थक्यकी भावनाका सेवन है, जहाँ पार्थक्य सहा नहीं वरन् आसक्ति-पूर्वक अपनाया जाता

है, वहाँ जीवन निस्तेज और जड़ हो चलता है। यही प्रतिगामिता है, क्योंकि, इसके सिरोंपर केवल अहंकार है और मौत है।

इसलिए, हिन्दीको भी बंद रहने और बंद रखनेमें विश्वास नहीं करना होगा। बंद तो वह है ही नहीं,—बंद इस जगतमें कुछ भी नहीं है। सब-कुछ सबके प्रति खुला है। और साहित्य वह वस्तु है जो सब ओर ग्रहणशील है। वह सूक्ष्म चिन्ता-धाराओंके प्रति भी जागरूक है, हलका-सा स्पर्श भी उसे छूता और उसपर छाप छोड़ता है। ऐसी अवस्थामें, हिन्दीके साहित्यको विश्वकी साहित्य-धाराओंसे अलग समझना भूल होगी। आदान-प्रदान, घात-संघात, चलता ही रहा है। हम जानें या न जानें, वह संघर्ष न कभी रुका न रुक सकता है। आज, जब कि बातचीत और आने-जानेके साधन विद्युद्गामी हो गये हैं, उस संघर्षको काफी स्पष्टतामें चीन्हा जा सकता है। अतः, आज यदि हिन्दीके प्रस्तुत साहित्यको ओंकना हो तो उसे इसी परस्परापेक्षामें रखकर देखना होगा। और इस प्रकारकी उस सम्यक्-समीक्षा और विद्वान् समीक्षकोंकी हिन्दीको आवश्यकता है।

आदमी आदमीके, देश देशके, द्वीप द्वीपके, क्षण क्षण पाससे और पास आता जा रहा है। निस्सन्देह, इस ऐक्यकी साधनामें मानवताको बड़े प्रयोग और परिश्रम भी करने पड़ रहे हैं। आदमी आदमीमें, देश देशमें, द्वीप द्वीपमें डाह और बैर भी दीखते हैं। महायुद्ध होकर चुका है; छुट-मुट युद्ध आँखों-आगे नित्य-प्रति हो रहे हैं और आसन्न भविष्यमें अगले महायुद्धकी घटाएँ छाई हैं। उस युद्धकी बिभीषिका अब भी मनुष्यके मानसपर दबाव डाल रही है।

पर, चाहे मार्ग बिकट हो, मानवताको उसपरसे बढ़ते ही चलना है। मेरी अंतिम प्रतीति है कि जाने-अनजाने अपनी दुर्भावनाओं और दुर्वासनाओंकी मार्फत भी हम अंततः एक दूसरेके निकट ही आ रहे हैं। इससे हमें परीक्षाओं और विफलतासे घबराना नहीं होगा और लक्ष्यपरसे आँख नहीं हटाना होगा।

जीवनकी आस्थाको और अपनी अंतस्थ लौको सँभाले रखकर व्यक्ति राहके ऊबड़-खाबड़को पार करता, दुःख-विषाद झेलता, जिये ही चलता है। कभी त्राससे घिर जाता है, कभी अश्रद्धासे भर आता है। तब, वह एकांतमें ऊपरके सूनेको देखता और दो-एक भारी साँस छोड़कर फिर अपने जीको कसकर चल पड़ता है। कभी कभी यह सब-कुछ बहुत भारी हो आता है। यहाँ तक कि मृत्यु उसे प्रिय और जीवन विष मादूम होता है। ऐसे समय, वह आत्म-घात भी कर बैठता है। लेकिन, जब तक बस है, वह जीवनको भाग्यकी धाराके साथ आगे खेये ही चलेगा। जीवनके अनेकानेक व्यापारोंके मंथनमेंसे जो कटुताका, कल्मषका, व्यथाका गरल उसके कंठमें भरता है, नानाविध उपायोंसे वह अपने भीतरकी, आस्थाके संयोगसे उसीको अमृत बना लेगा। उसे पियेगा, पिलायेगा, और चलता रहेगा।

इसी व्यथा-विसर्जनके यत्नमें उस मानवद्वारा कलाके नाना स्वरूपोंको जन्म मिलता है और साहित्यको जन्म मिलता है। मानवकी अन्तस्थ जीवन-प्रेरणा चुक भले जाय, पर चुप नहीं रह सकती; और वह, बिना चैन, बिना विराम, नये नये भावोंमें अभिव्यक्त होती है। उससे जीवन-यापनमें, जीवन-संवर्धनमें, बल मिलता है,—उससे एकसे दूसरेको रस मिलता है।

उठाई और किस बलपर मैं उसे चलाता भी रहा। लेकिन, सच बात यह है कि यदि मुझे स्वप्नमें भी कल्पना होती कि मेरा लिखा छापेमें आ जायगा तो लिखनेका दुस्साहसिक कर्म मुझसे न बनता। इसीसे जब मैं पढ़ता हूँ कि ईश-कृपासे बहरा भी सुन पड़ता और मूक बोल उठता है, और उस ईश-महिमासे पंगु भी गिरि लॉघ जाता है, तब, यह देखकर कि मैं आज लिखता हूँ, मुझे उस सब अनहोनीके होनेका भी विश्वास हो जाता है। इसलिए, घमंड-पाखंडकी सब बात परमात्मा ही जाने। उसकी कृपा ही हुई होगी कि मैं कुछ लिख भी सका, नहीं तो—

लेकिन, उसे छोड़िए। अब मैं पूछता हूँ कि जो मैंने आरंभमें लिखा, क्या 'स्वान्तः सुखाय' लिखा? मुझे नहीं मालूम। जो करता हूँ मैं अन्तःसुखके लिए करता हूँ या परिस्थितियोंके कारण करता हूँ,—यह मैं कुछ खोल कर समझ नहीं पाता हूँ। अलबत्ता इतना जानता हूँ कि आरंभमें जो लिखा, वह किसी भी प्रकार, किसीके उपकार, सुधार या उद्धारका प्रयोजन बाँध कर मैं नहीं लिख सका था। मैं तब इतना अज्ञातनाम, अपने आपमें इतना संव्रस्त, हीन, निरीह प्राणी था कि परहितकी कल्पना ही उस समय मुझे अपनी विडम्बना जान पड़ती। इसलिए, मैं किस प्रकार इन चर्चाओंमें जाऊँ कि साहित्य-कला किसके लिए है, अथवा किसके लिए हो? यह बात महत्वपूर्ण होगी, लेकिन, मैं उस बारेमें कोरा हूँ।

हाँ, इधर आकर एक विश्वास मेरी सारी चेतनामें भरता-सा जाता है कि जो कुछ हो रहा है, वह सब-कुछ 'एक' के लिए हो

रहा है उसी एक 'से' और उसी एक 'में' हो रहा है। और वह एक है, 'परमात्मा'। लेकिन, उस बातको आप मेरी सलज्ज अपराध-स्वीकृति,—Confession, ही मानिए। उसमें, हो सकता है कि, न कुछ भावार्थ मिले, न चरितार्थ दीखे। हो सकता है कि वह प्रतीति मेरी असमर्थताकी प्रतीक हो। लेकिन, मैं आरम्भमे ही कह चुका हूँ कि ठीक ठीक मैं कुछ जानता नहीं हूँ।

साहित्य क्यों, क्या, किसके लिए ?—इसकी प्रामाणिक सूचना मैं कहाँसे लाकर दूँ ? और जहाँसे लाकर दूँ वहाँसे आप क्या स्वयं नहीं ले सकते जो मेरा अहसान बर्दाश्त करें ? कैसे लिखा जाता है, इस बारेमे कहनेको मेरे पास अपना अनुभव और उदाहरण ही हो सकता है। यह कौन जाने कि किस हद तक वह आपके मनोनुकूल होगा, या प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय होगा।

आजकल मानवका समस्त ज्ञान वैज्ञानिक बने तब ठीक समझा जाता है। इस तरह, वह सुनिश्चित और सुप्राप्त बनता है और तभी प्रयोजनीय बनता है। सो, अब्बल तो ज्ञान ही मेरे पास नहीं, और जो निजी व्यक्तिगत कुछ बोध-सा है वह वैज्ञानिक तो है ही नहीं। इसलिए, उसे आप सहज अमान्य ठहरा दे तो मुझे कुछ आपत्ति न होगी।

जिन्दगीका मन्त्र क्या है ? मेरे ख्यालमे वह मंत्र है, प्रेम। सूरज-धरतीको, धरती-चादको, शत्रु-शत्रुको, पिता-पुत्रको, जन्म-मृत्युको, 'मैं'—'तूको,' स्त्री-पुरुषको, परस्पराकर्षणमें कौन थाम रहा है ? वही प्रेम। विराट्की शाश्वत अनन्त महिमा और हमारी क्षणजीवी अपार लघुता,—जो इन दोनोंको परस्पर सह्य और सम्भव बनाता है

वही प्रेम है। मुझे जान पड़ता है कि साहित्यका भी दूसरा कोई मंत्र नहीं है। प्रेमसे बाहर होकर साहित्यके अर्थमें कुछ भी जानने योग्य बाकी नहीं रहता। 'ढाई अच्छर प्रेमके पढ़ै सो परिडित होय' यह बात निरी कल्पना मुझे नहीं मालूम होती, सबसे सच्ची सच्चाई मालूम होती है। एक जगह कबीरने बालक प्रह्लादके मुँहसे गाया है—

मोहे कहा पढ़ावत आल-जाल,
मोरी पटियापै लिख देउ 'श्रीगोपाल' ।
ना छोड़ूँ रे बाबा राम नाम
मोकोँ और पढ़नसों नहीं काम ।

कबीरकी बानीमें उसी प्रेमके माहात्म्यका गान मुझे सुन पड़ता है। न ऊपरकी उक्तिका, न कबीर-बानीका, यह आशय समझा जाय कि सब पढ़ना-लिखना छोड़ देना होगा। पर, यह मतलब तो ज़रूर है कि जो प्रेम-विमुख है, ऐसा, पढ़ना हो या लिखना, सब त्याज्य है। जिसमें केवल बुद्धिका विलास है, जिससे अपने भीतर सद्भावना नहीं जागती और जगकर पुष्ट नहीं होती, वैसा पढ़ना-लिखना वृथा है। और यदि वह पठन-पाठन निरुद्देश्य है, तो वृथासे भी बुरा है, हानिकारक है।

ग़लत समझा जाऊँ, इस खतरेको भी उठाकर मैं यह प्रतीति अपनी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि, जो जानता है कि वह विद्वान् है, ऐसे महापंडितको सँभालनेकी शक्ति शायद साहित्यमे नहीं है। साहित्य जिस तरह मनोभावनाके तलपर रहता है, ऐसे महापंडितका स्थान उससे कहीं बहुत ऊँचेपर ही रह जाता है।

जान जान कर जितना जो मैंने जाना है वह ऊपर कह दिया है । वह एकदम कुछ न जाननेके बराबर हो सकता है । ऐसा हो, तो कृपापूर्वक आप मुझे क्षमा कर दे । शायद, आपकी कृपाके भरोसे ही उसका दुर्लभ उठाकर, ऊपर कुछ अपने मनकी निरर्थक-सी बात कह गया हूँ ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यकी समीक्षामें मैं नहीं जा सकूँगा । वह अधूरा है, अपर्याप्त है, पर यह भी निश्चित है कि वह सचेत है और यत्नशील है । वह बराबर बढ़ रहा है, गद्यके क्षेत्रमें वह तेजस्विताकी ओर भी बढ़ चला है । पद्यमें सूक्ष्मताकी ओर अच्छी प्रगति है । हिन्दी-साहित्यमें चहुँ-मुखता बेशक अभी नहीं है । वह इसलिए, कि जीवन ही अभी चहुँओर नहीं खुला है । पराधीन देशमें राष्ट्रीयता इतनी ज़रूरी-सी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह समूचे जीवनको उसी ओर खींचकर मानो नुकीला बनानेका प्रयास करती है । स्वाधीनताकी ज़रूरत है तो मुख्यतः इसीलिए कि जिंदगी सब तरफकी माँगोंके लिए खुले और फैले । अनिवार्यतया राष्ट्रीय भावकी प्रधानता अपने साहित्यमें रही और अब, जब कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है, संभावना है कि उस प्रकारकी साहित्यकी एकांगिता दूर होनेमें कुछ और भी समय लगे । आधुनिक समाजवाद भी साहित्यकी सर्वाङ्गीनताको संपन्न करनेमें विशेष उपयोगी नहीं हो रहा है । उपाय इसका यही है कि साहित्यकार व्यापक और विस्तृत जीवनकी ओर बढ़े,—नगरसे गाँवकी ओर, गाँवसे प्रकृतिकी ओर, प्रकृतिसे परमात्माकी ओर बढ़े । हमारे साहित्यकारको गण-वायु, शुद्ध जीवन और आसमानकी अधिक आवश्यकता है । वह

नगर-जीवनकी कृत्रिम समस्याओंसे घुटता जा रहा है। उसको शहरकी तंग गलियो और सटी दीवारोको लौंघकर, न हो तो तोड़कर, खुले मैदानमे साँस लेने बढ़ना चाहिए। उससे फेंफड़े मज़बूत होंगे और सबका भला होगा।

हिन्दी-साहित्यके सम्बन्धमें बात करते हुए यह कहना भी ज़रूरी मात्स्य होता है कि जैसे सुचारुताके लिए व्यक्तिमे विविध वृत्तियोंका सामंजस्य आवश्यक है, उसी भाँति, साहित्यमें आदर्शोंमुख भावनाओं और परिणामोंके सामंजस्यकी ओर हमें ध्यान देना होगा। ऐसा न होनेसे साहित्य जब कि रोमांटिक (=कल्पना-विलासी) हो उठता है तब उसकी ओट लेनेवाला जीवन संगति-हीन और उथला हो चलता है। कल्पनाका विलास तथ्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार, जो अध्यात्मका अथवा दर्शन-ज्ञानका वातावरण बनता है वह भ्रमक होता है, प्रेरक नहीं होता। वह छलमें डालता है, बल नहीं देता। स्वप्न खूब मनोरम हो, पर वह स्वप्न ही है तो किस कामका? उसी स्वप्नकी कीमत है जिसके पीछे प्रेरणा,—Will भी है। और ऐसा स्वप्न स्वप्न कम, संकल्प अधिक हो जाता है। साहित्यके मूलमें यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है; अन्यथा, विवेक-वियुक्त कल्पना धोखा दे सकती है, निर्माण और सर्जन नहीं कर सकती।

यूरोपके साहित्यको जो बात प्रबल बनाती है वह उसकी यही प्रेरक शक्ति है। स्वप्न उनके उतने ऊँचे न हो,—और नहीं हैं, लेकिन, उनके संकल्पों और उन स्वप्नोमे उतनी दूरी भी नहीं है कि विरोध मात्स्य हो। मन-वचन-कर्मका यह सामंजस्य,—यह ऐक्य, ही असली तत्त्व है। इस समन्वयसे मनकी भावना अधिक प्रेरक, वचन

हिन्दी और हिन्दुस्तान

अधिक सफल और कर्म अधिक सार्थक बनता है। इस एकताके साथ तीनों (भावना, शब्द, कृत्य) अलग अलग भी अपने आपमें सत्यतर बनते हैं। उस एकताके अभावमें तीनों झूठ हो जाते हैं। तभी तो प्रमत्तका स्वप्न, दम्भीके मुखका शास्त्र-वचन, और पाखण्डीका धर्म-कर्म अपने आपमें सुन्दर होते हुए भी असत्य हो जाता है। राजनीतिसे अधिक साहित्यके क्षेत्रमें यह एकता जरूरी है। क्योंकि स्थूल कर्मका परिणाम तो थोड़ा बहुत होता भी है पर शब्दमें तो वैसी स्थूल शक्ति है नहीं, उसमें उतनी ही शक्ति है जितनी अपने प्राणोंसे हम उसमें डाल सकते हैं। अतः, साहित्यकारके लिए मन-वचन-कर्मकी एकता साधना जरूरी मानना चाहिए।

एक बात और, और बस। एक प्रकारसे वह ऊपर भी आ गई है, पर उसको स्पष्ट कह देना मला ही हो सकता है। वह यह कि हमको सबके प्रति विनयशील होना होगा। अविनय जड़ता है। जीवन पवित्र तत्त्व है और साहित्यके निकट, क्योंकि, सब कुछ सजीव है इससे साहित्य-रसिकके लिए सब कुछ पवित्र है। उसके मनमें किसीके लिए अवज्ञा नहीं हो सकती। ऐसी अवज्ञाके मूलमें अहंकार और अपूर्णता है।

इस बातके संबंधमें अधिकसे अधिक सावधानी भी इसलिए कम है कि आज चारों ओर राजनीतिक प्रचारके कारण सहानुभूतिकी मर्यादा-रेखाएँ खींच दी गई हैं और प्रेम दिलोंमें बँट गया है। इस भ्रंति अवज्ञाकी भावना सहज भावमें घर कर जाती है और वह उपयुक्त भी जान पड़ने लगती है। पर निश्चय रखिए कि

अनादरकी भावनामेसे कोई निर्माण नहीं हो सकता । सर्जन स्नेहद्वारा ही संभव है ।

पर यहाँ भूल न हो । जीवन निरी मुलायम चीज़ नहीं है । वह युद्ध है । वह इतना सत्य है कि काल भी उसे कमी तोड़ नहीं सकता । निरंतर होती हुई मृत्युके बावजूद जीवनकी धारा अनवच्छिन्न भावसे बहती चली आ रही है, बहती चली जायगी । सत्यको सदा ही असत्यसे मोर्चा लेना होगा, जबतक व्यक्ति है तब तक युद्ध है । वहाँ कोई समझौता नहीं है, और कोई अंत नहीं है ।

पर युद्ध किससे ? व्यक्तिसे नहीं, घनीभूत मैलसे । पापीसे नहीं, पापसे । क्योंकि जिसे पापी माना है, उसके भीतर आत्माकी आग है और आग सदा उज्ज्वल है । वह पापको क्षार करती है । यह पापसे अडिग भावसे जूझनेकी क्षमता पापीको प्रेम और उसके भीतरकी आगमे विश्वास करनेकी साधनामेसे आवेगी ।

मैंने आपका बहुत समय लिया । इस समयमें जो सूझा है मैं कहता रहा हूँ । आप मेरे प्रति करुणाशील हुए तो मैं यह अपना कम लाभ नहीं मानूँगा । आप देखते तो हैं कि आपकी कृपाका मैंने कैसा फायदा उठा लिया है । मैं उस सबके लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ और आपको फिर धन्यवाद देता हूँ ।



प्रेमचन्दजीकी कला

श्रीप्रेमचन्दजीका ताज़ा उपन्यास 'ग़बन' हाल ही निकला है। निकला तभी मैंने इसे पढ़ लिया। लेकिन, जो मुझे वक्तव्य हो सकता है, वह लिखता अब हूँ। चीज़को समझने और पुस्तकके असरको ठंडा होने देनेके लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। ठंडा होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तकसे अपनेको अलहदा खड़ा करके मानो उसपर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्दजी हिन्दीके सबसे बड़े लेखक है। हम हिन्दीभाषाभाषी उनके मूल्यको ठीक आँक नहीं सकते। हम चित्रके इतने निकट हैं कि उसकी विविधता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है; उसमें निवास करती हुई और उस चित्रको सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़में नहीं आती। जो एकाध दशाब्दि अथवा एक-दो भाषाका अंतर बीचमें डालकर प्रेमचन्दको देखेंगे, वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्दको अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यमें और हिन्दीको छोड़कर जहाँ अनुवादोद्वारा अन्य भाषाओंमें पहुँचेंगे, वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन, यत्नद्वारा हम अपनी दृष्टिमें कुछ कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत पासकी चीज़को मानों इतनी दूरसे देख सके कि वह हमें अपनी सम्पूर्णतामें, अपनी एकतामें, दीखे। अगर रचनाओंके भीतर पैठकर, मानों इस सीढ़ीसे, हम रचनाकारके हृदयमें पहुँच

जाँय जहाँसे कि उसकी रचनाओंका उद्गम है और जहाँसे उसे एकता प्राप्त होती है, तो हम रसमे डूब जायें ।

अपने भीतरके स्नेह, सहानुभूति और कौशलको विविध भाँतिसे कलमकी राह उतार कर कलाकारने तुम्हारे सामने ला रक्खा है । तुम उन शब्दों, भाषा, छोट, और छोटके पात्रोंका मानों सहारा भर लेकर यदि हृदयमेंसे फूटते हुए झरनों तक पहुँच जा सकते हो, तो वहाँ स्नान करके आनंदित और धन्य हो जाओगे । नहीं तो, कालिजीय विद्वानकी तरह उसकी भाषाकी खूबी और त्रुटि और उसके व्याकरणकी निर्दोषता-सदोषतामे फँसे रहकर उसकी छान-बीनका मज़ा ले सकते हो ।

मुझे व्याकरणकी चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती । भाषाकी चुस्तीका या शिथिलताका ध्यान उसीके ध्यानकी गरजसे मैं नहीं रख पाता । भाषाकी खूबी या कमीको, सम्पूर्ण वस्तुके मर्मके साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य बैठाकर, मैं देख लेना चाहता हूँ । अतः, यह नहीं कि मैं उस ओरसे नितांत उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ रहता ।

प्रेमचंदजीकी कलमकी धूम है । बेशक, वह धूमके लायक है । उनकी चुस्त-दुरुस्त भाषापर, उनके सुजड़ित वाक्योपर, मैं किसीसे कम मुग्ध नहीं हूँ । बातको ऐसा सुलझाकर कहनेकी आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है । बड़ीसे बड़ी बातको बहुत उलझनके अवसरपर ऐसे सुलझा कर, थोड़ेसे शब्दोंमें भरकर कुछ इस तरहसे कह जाते हैं जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्य-प्रति घरेलू व्यवहारकी जानी-पहचानी चीज़ हो । इस तरह, जगह

जगह उनकी रचनाओंमें ऐसे वाक्यांश बिखरे भरे पड़े हैं, जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कंठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभवका मर्म भरा रहता है।

प्रेमचन्दजी तत्त्वकी उलझन खोलनेका काम करते हैं, और वह भी सफाई और सहजपनके साथ। उनकी भाषाका क्षेत्र व्यापक है, उनकी कलम सब जगह पहुँचती है; लेकिन, अंधेरेसे अंधेरेमें भी वह धोका नहीं देती। वह वहाँ भी सरलतासे अपना मार्ग बनाती चली जाती है। सुदर्शनजी और कौशिकजीकी भी कलम बड़े मजे-मजेमें चलती है, लेकिन, जैसे वह सड़कोपर चलती है, उलझनोंसे भरे विश्लेषणके जङ्गलमें भी उसी तरह सफाईसे अपना रास्ता काटती हुई चली चलेगी, इसका मुझे परिचय नहीं है।

स्पष्टताके मैदानमें प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रोंको भी सुस्पष्ट, चारों ओरसे सम्पूर्ण बना कर वह सामने लाते हैं। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती है। अपने पात्रोंकी भावनाओंके उत्थान-पतन, घात-प्रतिघातका पूरा पूरा नकशा वह पाठकके सामने रख देते हैं। तद्गत कारण, परिणाम, उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदिके संबन्धमें पाठकके हृदयमें संशयकी गुंजायश नहीं रह जाती। इसलिए, कोई वस्तु उनकी रचनामें ऐसी नहीं आती जिसे अस्वाभाविक कहनेको जी चाहे, जिसपर विस्मय हो, प्रीति हो, बलात् श्रद्धा हो। सबका परिपाक इस तरह क्रमिक होता है, ऐसा लगता है, कि मानों बिल्कुल अवश्यम्भावी है। अपने पाठकके साथ मानों वे अपने भेदको बाँटते चलते हैं। अंग्रेजीमें यों

कहेंगे कि वह पाठकको Confidence में, विश्वासमें, ले लेते हैं। अमुक पात्र क्यों अब ऐसी अवस्थामें है,—पाठक इस बारेमें असमंजसमें नहीं रहने दिया जाता। सब-कुछ उसे खोल खोलकर बतला दिया जाता है। इस तरह, पाठक सहज रूपमें पुस्तककी कहानीके साथ आगे बढ़ता जाता है, इसमें उसे अपनी ओरसे बुद्धि-प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती,—पात्रोंके साथ मानो उसकी सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए, पुस्तकमें ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्रके साथ नहीं चल रहा है,—ज़रा रुककर उसके साथ हो ले। वह पुस्तक पढ़नेको ज़रा थामकर अपनेको सँभालनेकी जरूरतमें नहीं पड़ता। ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ आह खींचकर वह पुस्तकको बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने और पोछनेमें उसे लगाना पड़े; और फिर, तुरत ही फिर पढ़ना शुरू कर दे। पाठक बड़ी दिलचस्पीके साथ पुस्तक पढ़ता है, और उसके इतने साथ साथ होकर चलता है कि कभी उसके जीको जोरका आघात नहीं लगता जो बरबस उसे रुला दे।

‘ग़बन’में मार्मिक स्थल कम नहीं हैं, पर, प्रेमचन्दजी ऐसे विश्वास ऐसी मैत्री और परिचयके साथ सब-कुछ बतलाते हुए पाठकको वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे धक्का-सा कुछ भी नहीं लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है, और अपने साथी ग्रंथकारकी जानकारीपर, कुशलतापर, और उसके अपने प्रति विश्वासपर, जगह जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पगपर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानीके स्वर्गमेंसे उसका हाथ पकड़कर ले जाता हुआ उसका पथदर्शक बड़ा सहृदय और

बिलक्षण पुरुष है। पाठक बिल्कुल उसका होकर रहनेको तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता, क्योंकि, उसे भरोसा रहता है कि ग्रंथकार उसे छोड़कर इधर-उधर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए, ग्रंथकारको भागकर छूनेका अभ्यास करके उसके साथ रहने और, इस प्रकार, अपरिचित रास्तेपर झटकों-धक्कोंको खाते कभी उनपर हँसते और कभी रोते हुए चलनेका मजा पाठकको नहीं मिलता; पर पाठक इस स्वादको भी चाहता है।

मैं 'ग़ज़न' पढ़ते हुए कहीं भी रो नहीं पड़ा। रवीन्द्रकी एकाध किताब पढ़नेमें, बंकिम पढ़नेमें, शरद पढ़नेमें, कई बार बरबस आँखोंमें आँसू फूट आये हैं। फिर भी, प्रेमचन्दकी कृतियोंसे जान पड़ता है कि मैं उनके निकट आ जाता हूँ, उनपर विश्वास करने लगता हूँ। शरद पढ़ते हुए कई बार गुस्सेमें भेने उसकी कृतियोंको पटक दिया है, और रोते रोते उसे कोसनेको जी किया है। 'कम्बख्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा!', इस भावसे फिर उसकी पुस्तक उठा कर पढ़ना शुरू कर दी है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल, प्रेमचन्दकी कृतियोंसे उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचयका भाव उत्पन्न होता है।

शरद और कई अन्यकी रचनाएँ पढ़ते वक्त जान पड़ता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नहीं चाहते; हमारी,—अर्थात् पाठककी, इन्हे बिल्कुल परवाह नहीं है; हमारे भावोंकी रक्षा करनेकी इन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं है; जैसे हमारा जी दुखता है या नहीं दुखता, हम नाराज़ होते हैं या खुश, हमें अच्छा लगता है या बुरा,—इसके

उस वेदनाको हृदयंगम करके हम फिर तनिक जवाहरलालकी जीवन-धाराकी ओर मुड़े और स्रोतपर पहुँचें—

युवा नेहरूने जीवनमें प्रवेश किया है। उत्साह उसके मनमें है, प्रेम और प्रशंसा तथा सम्पन्नता उसके चारों ओर है और सामने विस्तृत जीवनके अनेक प्रश्न हैं,—अनेक आकांक्षाएँ और भविष्यकी यवनिकाके शनैः शनैः खुलनेकी प्रतीक्षा है। अभी तो वह अज्ञेय है, अधेरा है।

जवान नेहरू आशासे भरा है। आशा है, इसीलिए असंतोष है। भविष्यके प्रति उत्कंठा है, क्योंकि वर्तमानसे तीव्र अतृप्ति है। वह विलायतमें रहा है, वहीं पला है। जानता है, आज़ादी क्या होती है। जानता है, जिन्दगी क्या होती है। साहित्य पढ़ा है और उसके मनमें स्वप्न हैं। लेकिन, अब यही आदमी हिन्दुस्तानमें क्या देखता है ? देखता है गुलामी ! देखता है गंदगी !! देखता है निपट गरीबी !!! उसके मनमें हुआ कि यह क्या अन्धेर है ? यह क्या ग़ुज़ब है ?—उसका मन छटपटाने लगा। ऐसे और भी युवा थे जो परेशान थे।—जहाँ-तहाँ राष्ट्रीय यत्न चल रहे थे। वह इधर गया उधर मिला, पर कहीं तृप्ति नहीं मिली। ये लोग और ऐसे स्वराज्य लेगे ?—वह अशान्त रहने लगा। जिनका प्रशंसक था उनकी आलोचना उसके मनमें जागने लगी। वह युवक था आदर्शोन्मुख, अधीर, सम्पन्न और विद्वान्। कुछ वह चाहने लगा जो वास्तव इतना न हो जितना स्वप्न हो। पर, स्वप्न तो अशरीर होता है और मानव सशरीर। स्वप्न भला कब कब देह धारण करते हैं ? लेकिन, इस जवाहरका मन उसीकी माँग करने लगा। उसके छटपटाते मनने कहा कि ये

उदार,—लिबरल लोग बूढ़े हैं। ये क्रान्तिकारी लोग बच्चे हैं। होमरूलमें क्या है ? समाज-सुधारसे न चलेगा। ये छोटे छोटे यत्न क्या काम आयेंगे ?—अरे ! कुछ और चाहिए, कुछ और !—बैरिस्टर जवाहरकी सम्पन्नता और उसकी पढ़ाईने उसमें भूख लहकाई—कुछ और, कुछ और !!

और जवाहरलालको वह 'कुछ और' भी मिला। स्वप्न चाहता था, वह स्वप्न भी मिला। जवाहरलालको गाँधी मिला !!

जवाहरलालने अपने पूरे बलसे गाँधीका साथ पकड़ लिया। साथ पकड़े रहा, पकड़े रहा। पर गाँधी यात्री था। जवाहरने अपने रास्तेपर गाँधीको पाया हो और, इस तरह, उसे अपने ही मार्गपर गाँधीका साथ मिल गया हो, ऐसी तो बात नहीं थी। इसलिए, थोड़ी ही दूर चलनेपर जवाहरलालके मनमें उठने लगा, 'हैं, यह क्या' मैं कहाँ जा रहा हूँ ? क्या यही रास्ता है ? यह आदमी कहाँ लिये जा रहा है ? हैं, यह आदमी सच्चा जादूगर भी है ! लेकिन, मुझे तो सँभलना चाहिए।

गाँधीका साथ तो पकड़े रहा, लेकिन, शंकाएँ उसके मनमें गहरा घर करने लगीं। लेकिन, जब साथ पकड़ा, तो छोड़नेवाला जवाहरलाल नहीं। हो जो हो। और वह अपनी शंकाओंको अपने मनमें ही घोंट घोंट कर पीनेका यत्न करने लगा।

उसके मनमें क्लेश हो आया। शंकाएँ दाबे न दबती थीं। उसने आखिर लाचार हो जादूगर गाँधीसे कहा—ठहरो, ज़रा मुझे बताओ कि यह क्या है ? और वह क्या है ? आओ, हम ज़रा ठहर कर सफ़रके बारेमें समझ-बूझ तो लें !

गाँधीने कहा—यह तो यह है; और वह वह है। मैं जानता हूँ, सब ठीक है। पर ठहरो नहीं, चले चलो।

जवाहरने कहा—ठहरो ! ठहरो !! बिना समझ-बूझ के मैं नहीं चलूँगा।

गाँधीने कहा—यह बहुत ज़रूरी बात है। ज़रूर समझ-बूझ लो। लेकिन मैं चला।

गाँधी रुका था कि चल पड़ा। जवाहरलालने कहा—चलनेमें मैं पीछे नहीं हूँ, लो, मैं भी साथ हूँ। लेकिन, समझूँ बूझूँगा ज़रूर।

गाँधीने चलते चलते कहा—हाँ ! हाँ !! ज़रूर !

लेकिन, जवाहरलालकी मुश्किल तो यह थी कि गाँधीका धर्म उसका धर्म नहीं था। गाँधी बड़ी दूरसे चला आ रहा था। जानता था कि किस राह जा रहा हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। जवाहरलाल परेशान, जानेके लिए अधीर, एक जगह किसी स्वप्न-दूतकी राह देख रहा था। उसने कोई राह नहीं पाई थी कि आया गाँधी। और जवाहर उसी राह हो लिया। पर, उस राहपर उसे तृप्ति मिलती तो कैसे? हरेकको अपना मोक्ष आप बनाना होता है। इससे, अपनी राह भी आप बनानी होती है, यह तो सदाका नियम है। इसलिए, चलते चलते एकाएक अटक कर जवाहरलालने गाँधीसे कहा—नहीं ! नहीं !! नहीं !!! मैं पहले समझ लूँगा और बूझ लूँगा। सुनो तो, इकोनॉमिक्स यह कहती है और पॉलिटिक्स वह। अब बताओ, हम क्यों न समझ-बूझ लें ?

गाँधीने कहा—ज़रूर समझ लो और ज़रूर बूझ लो। इकोनॉमिक्सकी बात भी सुनो। पर रुकना कैसा ? मेरी राह लम्बी है।

नेहरू और उनकी 'कहानी'

जवाहरलालने कहा—मैं बच्चा नहीं हूँ ।

गाँधीने कहा—तुम वीर हो ।

जवाहरलालने कहा—मैं हारा नहीं हूँ, चलना नहीं छोड़ूँगा ।

गाँधीने कहा—चले तो चलो ।

वह यात्रा तो हो ही रही है। लेकिन, जवाहरलालके मनकी पीड़ा बढ़ जाती है। उसके भीतरका क्लेश भीतर समाता नहीं है।—गाँधी स्वप्न-पुरुषकी भाँति उसे मिला। अब भी वह जादूगर है!.... लेकिन, अरे ! यह क्या बात है ? देखो, पॉलिटिक्स यह कहती है, इकोनॉमिक्स वह कहती है। और गाँधी कहता है, धर्म। धर्म ? दकियानूसी बात है कि नहीं ?....है गाँधी महान्, लेकिन, आखिर तो आदमी है। पूरी तरह पढ़ने-पढ़ानेका उसे समय भी तो नहीं मिला। इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स ज़रा वह कम समझे, इसमें अचरजकी बात क्या है ?....और हाँ, कहीं यह रास्ता तो ग़लत नहीं है ?.... पॉलिटिक्स....इकोनॉमिक्स....लेकिन गाँधी महान् है, सच्चा नेता है।

जवाहरलालने कहा—गाँधी, सुनो, तुम्हें ठहरना ज़रूर पड़ेगा। हमारे पीछे लाखोंकी भीड़,—यह कांग्रेस, आ रही है। तुम और हम चाहे गड्ढेमें जायँ, लेकिन कांग्रेसको गड्ढेमें नहीं भेज सकते। बताओ, यह तुम्हारा स्वराज्य क्या है जहाँ हम सबको लिये जा रहे हो ?

गाँधीने कहा—लेकिन ठहरो नहीं, चलते चलो। हाँ, स्वराज्य ? वह राम-राज्य है।

—राम-राज्य ! लेकिन हमको तो स्वराज्य चाहिए,—आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक....।

—हाँ ! हाँ ! ! ठीक तो है, आर्थिक, राजनीतिक....पर धीमे न पड़ो, चले चलो ।

—धीमे ? लेकिन, आपका रास्ता ही ग़लत हो तो ?

—सही होनेकी श्रद्धा नहीं है तो अवश्य दूसरा रास्ता देख लो । मैं जा रहा हूँ ।

जवाहरलाल समझने-बूझनेको ठहर गया । गाँधी अपनी राह कुछ आगे बढ़ गया । जवाहरलालने चिल्लाकर कहा—लेकिन सुनो ! अरे ज़रा सुनो तो ! ! तुम्हारा रास्ता ग़लत है । मुझे थोड़ा थोड़ा सही रास्ता दीखने लगा है ।

गाँधीने कहा—हाँ होगा, लेकिन जवाहर, मुझे लम्बी राह तय करनी है । तुम मुझे बहुत याद रहोगे ।

जवाहरलालको एक गुरु मिला था, एक साथी । वह कितना जवाहरलालके मनमें बस गया था ! उसका प्यार जवाहरलालके मनमें ऐसा जिन्दा है कि खुद उसकी जान भी उतनी नहीं है । उसका साथ अब छूट गया है ।—लेकिन, राह तो वह नहीं है, दूसरी है,—यह बात भी उसके मनके भीतर बोल रही है । वह ऐसे बोल रही है जैसे बुखारमें नब्ज़ । वह करे तो क्या करे ।

इतनेमें पीछेसे काँग्रेसकी भीड़ आ गई ।

पूछा—जवाहर, क्या बात है ? हाँफ क्यों रहे हो ? रुक क्यों गये ?

जवाहरलालने कहा—रास्ता यह नहीं है ।

भीड़के एक भागने कहा—लेकिन, गाँधी तो वह जा रहा है !

जवाहरलालने कहा—हाँ, जा रहा है । गाँधी महान् है । लेकिन, रास्ता यह नहीं है । पॉलिटिक्स और कहती है ।

नेहरू और उनकी 'कहानी'

भीड़मेंसे कुछ लोगोंने कहा—ठीक तो है । रास्ता यह नहीं है । हम पहलेसे जानते थे, आओ जरा सुस्ता लें, फिर लौटेंगे ।

जवाहरलालने कहा—हाँ, रास्ता तो यह नहीं है और आओ जरा सुस्ता भी लें । पर लौटना कैसा ? देखो, दायें हाथ रास्ता जाता है ।—इधर चलना है ।

भीड़मेंसे कुछ लोगोंने कहा—लेकिन गाँधी... ?

जवाहरलालका कण्ठ आर्द्र हो आया । बड़ी कठिनाईसे उसने कहा—गाँधी महान् है, लेकिन रास्ता...

आगे जवाहरलालसे न बोला गया । वाणी रुक गई, आँखोंमें आँसू आ गये ।

इसपर लोगोंने कहा—जवाहरलालकी जय !

कुछने वही पुराना घोष उठाया—गाँधीकी जय !

और गाँधी उसी रास्तेपर आगे चला जा रहा था जहाँ इन जयकारोकी आवाज़ थोड़ी थोड़ी ही उस तक पहुँच सकी ।

ऊपरके कल्पना-चित्रसे जवाहरलालकी व्यथाका अनुभव हमें लग सकता है । उस व्यथाकी कीमत प्रतिक्षण उसे देनी पड़ रही है, इसीसे जवाहरलाल महान् है । उस व्यथाकी ध्वनि पुस्तकमें व्यापी है, इसीसे पुस्तक भी साहित्य है । जिसकी ओर बरबस मन उसका खिंचता है, उसीसे बुद्धिकी लड़ाई ठन पड़ी है । शायद, भीतर जानता है, यह सब बुद्धि-युद्ध व्यर्थ है, लेकिन व्यर्थताका चक्कर एकाएक कटता भी तो नहीं । बुद्धिका फेर ही जो है । आज उसीके व्यूहमें घुसकर योद्धाकी भाँति जवाहरलाल युद्ध कर रहा है, पर निकलना नहीं जानता ।

यहाँ मुझे अपने ही वे शब्द याद आते हैं जो न जाने कहाँ लिखे थे—
 “While Gandhi is a consummation, Jawaharlal is a noble piece of tragedy. Describe Gandhi as inhuman if you please, but Jawaharlal is human to the core. May be, he is concertingly so.”

जहाँसे जवाहरलाल दूसरी राह टटोलते हैं और अपना मत-भेद स्पष्ट करते दीखते हैं, उसी स्थलसे पुस्तक कहानी हो जाती है। वहाँ जैसे लेखकमें अपने प्रति तटस्थता नहीं है। वहाँ लेखक मानो पाठकसे प्रत्याशा रखता है कि जिसे मैं सही समझता हूँ, उसे तुम भी सही समझो, जिसे ग़लत कहता हूँ उसे ग़लत। वहाँ लेखक दर्शक ही नहीं, प्रदर्शक भी है। वहाँ भावनासे आगे बढ़कर वासना भी आ जाती है। यों वासना किसमें नहीं होती?—वह मानवका हक़ है। लेकिन, लेखकका अपनी कृतिमें वासना-हीनका ही नाता खरा नाता है। वही आर्टिस्टिक है। जवाहरलालकी कृतिमें वह आ गया है जो इनार्टिस्टिक है, असुन्दर है। आधुनिक राजनीति (या कहो कांग्रेस-राजनीति) में जिस समयसे अधिकारपूर्वक प्रवेश करते हैं, उसी समयसे अपने जीवनके पर्यवेक्षणमें लेखक जवाहरलाल उतने निस्सग नहीं दीखते।

आत्म-चरित लिखना एक प्रकारसे आत्म-दानका ही रूप है। नहीं तो, मुझे किसके जीवनकी घटनाओंको जानने अथवा अपने जीवनकी घटनाओंको जतानेसे क्या फायदा? परिस्थितियाँ सबकी अलग होती हैं। इससे घटनाएँ भी सबके जीवनमें एक-सी नहीं घट सकती। लेकिन, फिर भी, फायदा है। वह फायदा यह है कि दूसरेके जीवनमें हम अपने जीवनकी भाँकी लेते हैं। जीवन-तत्त्व

नेहरू और उनकी 'कहानी'

सब जगह एक है और हर एक ज़िन्दगीमें वह है जो हमें लाभ दे सके । वस्तुतः जीवन एक क्रीड़ा है । सबका पार्ट अलग अलग है । फिर भी, एकका दूसरेसे नाता है । लेकिन, यदि एक दूसरेसे कुछ पा सकता है तो वह उसका आत्मानुभव ही, अहंता नहीं ।

इस भाँति, आत्म-चरित अपनी अनुभूतियोंका समर्पण है । जवाहर-लालजीका आत्म-चरित सम्पूर्णतः वह ही नहीं है । उसके समर्पणके साथ आरोप भी है, आग्रह भी है । लेखककी अपनी अनुभूतियाँ ही नहीं दी गई हैं,—अपने अभिमत, अपने विधि-निषेध, अपने मत-विश्वास भी दिये गये हैं और इस भाँति दिये गये हैं कि वे स्वयं इतने सामने आ जाते हैं कि लेखकका व्यक्तित्व पीछे रह जाता है ।

यहाँ क्या एक बात मैं कहूँ ? ऐसा लगता है कि विधाताने जवाहरलालके प्राणोंकी जितनी श्रेष्ठ पूँजी रक्खी उसके अनुकूल परिस्थितियाँ देनेकी कृपा उसने उनके प्रति नहीं की । परिस्थितियोंकी जो सुविधा जन-सामान्यको मिलती है, उससे जवाहरलालको वंचित रक्खा गया है । जवाहरलालजीको वाजिब शिकायत हो सकती है कि उन्हें ऊँचे घराने और सब सुख-सुविधाओंके बीच क्यों पैदा किया गया ? इस दुर्भाग्यके लिए जवाहरलाल सचमुच रुष्ट हो सकते हैं और कोई उन्हें दोष नहीं दे सकता । इस खुश और बद-नसीबीका परिणाम आज भी उनके व्यक्तित्वमेंसे धुलकर साफ नहीं हो सका है ।

वह हठीले समाजवादी हैं,—इतने राजनीतिक हैं कि बिल्कुल देहाती नहीं हैं ।—सो क्यों ? इसीलिए तो नहीं कि अपनी सम्पन्नता

और कुलीनताके विरुद्ध उनके मनमें चुनौती भरी रहती है ? वह व्यक्तित्वमें उनके हल नहीं हो सकी है, फूटती रहती है और उन्हें बेचैन रखती है ।

बीससे चौबीस वर्ष तककी अवस्थाका युवक सामान्यतया अपनेको दुनियाके आमने-सामने पाता है । उसे झगड़ना पड़ता है तब जाना उसके लिए सम्भव होता है । दुनिया उसको उपेक्षा देती है और उसकी टक्करसे उस युवामें आत्म-जागृति उत्पन्न होती है । चाहे तो वह युवक इस संघर्षमें डूब सकता है चाहे चमक सकता है ।

इतिहासके महापुरुषोंमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जहाँ विधाताने उन्हें ऐसे जीवन-संघर्षका और विपत्तियोंका दान देनेमें अपनी ओरसे कंजूसी की हो । पर, मैं क्या आज विधातासे पूछ सकता हूँ कि जवाहरलालको आत्मा देकर, जवाहरलालकी किस भूलसे, उसने लाड़-प्यार और प्रशंसा-स्वीकृतिके वातावरणमें पनपनेको लाचार किया ? मैं कहता हूँ, विधनाने यह छल किया ।

परिणाम शायद यह है कि जवाहरलाल पूरी तरह स्वयं नहीं हो सके । वह इतने व्यक्तित्व नहीं हो सके कि व्यक्ति रहे ही नहीं । थियरी उनको नहीं पाने चलती, वही उसको खोजते हैं । शास्त्रीय ज्ञानकी टेकन उनकी टेकन है,—हाँ, शास्त्र आधुनिक हैं । (पुस्तकमें कितने और कैसे कमालके रेफरेन्स और उदाहरण हैं !) शास्त्र उनके मस्तकमें है, दिलमें नहीं । दिलमें शास्त्रका सार ही पहुँचता है, बाकी छूट जाता है । इसीसे, अनजानमें वह शास्त्रके प्रति अवज्ञा-शील हो जाते हैं । एक 'इज़्म'का सहारा लेते हैं, दूसरे 'इज़्मों' पर

नेहरू और उनकी 'कहानी'

प्रहार करते हैं। सच यह है कि वह पूरे जवाहरलाल नहीं हो सके हैं तभी एक 'इस्ट' (सोशलिस्ट) हैं और, ध्यान रहे, वह पैतृक 'इज़म' नहीं है।

चूँकि उन समस्याओंसे उन्हें सामना नहीं करना पड़ा जो आये दिनकी आदमीकी बहुत करीबकी समस्याएँ हैं, इसीसे उनके मनमें जीवन-समस्याओंके अतिरिक्त और अलग तरहकी बौद्धिक समस्याएँ घिर आई।

आदमीका मन और बुद्धि खाली नहीं रहते। सचमुचकी उन्हें उलझन नहीं है, तो वह कुछ उलझन बना लेते हैं। जीवन-समस्या नहीं तो बुद्धि-समस्याको वे बौद्धिक रूप ही दे देते हैं। क्या यह इसीसे है कि उनकी बौद्धिक चिन्ता रोटी और कपड़ेके राजनीतिक प्रोग्रामसे ज्यादा उलझी रहती है,—क्योंकि, रोटी और कपड़ेकी समस्याके साथ उनका रोमांसका सम्बन्ध है।

स्थूल अभावका जीवन उनके लिए रोमांस है। क्या ऐसा इसीलिए है कि उनका व्यावहारिक जीवन जब कि देहाती नहीं है तब बुद्धि उसी देहातके स्थूल जीवनकी ओर लगी रहती है? और लोग तो चलते धरतीपर हैं, कल्पना आस्मानी करते हैं। जवाहरलालजीके साथ ही यह नियम नहीं है। क्या हम विधातासे पूछ सकते हैं कि यह विषमता क्यों है?

जवाहरलालजीको देखकर मन प्रशंसासे भर जाता है। पुस्तक पढ़कर भी मन कुछ सहमे बिना न रहा। जब उस चहरेपर झल्लाहट देखता हूँ, जानता हूँ कि इसके पीछे ही पीछे मुस्कराहट आ रही है।

पर उनका मुस्काराता चेहरा देखकर भय-सा होता है कि अगली ही घड़ी इन्हें कहीं भीकना तो नहीं पड़ेगा !

पुस्तकमें उसी रईस और कुलीन, लेकिन मिलनसार, वेदनामें भीनी, खुली और साफ़ तबीयतकी झलक मिलती है। मनका खोट कहीं नहीं है, पर मिज़ाज जगह जगह है।

निकट भूत और वर्तमान जीवनके प्रति असंलग्नता पुस्तकमें प्रमाणित नहीं हुई है, फिर भी, एक विशेष प्रकारकी हृदयकी सच्चाई यहाँसे वहाँ तक व्याप्त है।

पुस्तकमें अन्तकी ओर खासे लम्बे विवेचन और विवाद है। हमारे अधिकतर विवाद शब्दोंका झमेला होते हैं। जब तक मतियाँ भिन्न हैं, तब तक एक शब्दका अर्थ एक हो ही नहीं सकता। सजीव शब्द अनेकार्थवाची हुए बिना जियेगा कैसे? यह न हो तो वह शब्द सजीव कैसा? पर जवाहरलालजी इसी कथनपर विवादपर उतारू हो सकते हैं। उन्होंने एक लेखमें लिख भी दिया था कि एक शब्द दिमाग़पर एक तस्वीर छोड़ता है और उसे एक और स्पष्टार्थवाची होना चाहिए वगैरह वगैरह....। पर, वह बात उनकी अपनी अनुभूत नहीं हो सकती। सुननेमें भी वह किताबी है। इसलिए, उन विद्वत्तापूर्वक किये गये विवादोंको हम छोड़ दें। यह अपनी अपनी समझका प्रश्न है। कोई नहीं कह सकता है कि जवाहरलाल ग़लत है, चाहे वह यही कहे कि वह और वही सही हैं।

जवाहरलालजी आजकी भारतकी राजनीतिमें जीवित शक्ति हैं। उनके विश्वास रेखाबद्ध हों, पर वे गहरे हैं। कहनेको मुझे यही हो सकता है कि रेखाबद्ध होनेसे उनकी शक्ति बढ़ती नहीं घटती है,

नेहरू और उनकी 'कहानी'

और स्वरूप साफ नहीं विकृत होता है। उसपर वह कर्म-तत्पर भी हैं। विभेद उनके राजनीतिक कर्मकी शिला है। वे जन्मसे ब्राह्मण, वर्गसे क्षत्रिय हैं, पर मन उनका अत्यन्त मानवीय है। सूर्योदयकी वेलाके प्रभातमें भी उन्हें प्रीति है। पशु-पक्षियोंमें, वनस्पतियोंमें, प्रकृतिमें, तारोंसे चमक जानेवाली अंधेरी-उजली रातोंमें, भविष्यमें, इस अज्ञेय और अजेय शक्तिमें, जो है और नहीं भी है,—इन सबमें भी जवाहरलालजीका मन प्रीति और रस लेता है। उस मनमें कट्टरता हो, पर जिज्ञासा भी गहरी भरी है। वही जिज्ञासासे भीना स्नेहका रस जब तनिक तनिक अविश्वस्त उनकी मुस्कराहटमें फूटता है, तब कट्टरता भी अमृतमे नहा जाती है। वह नेता है और चाहे पार्टी राजनीतिक भी हो, पर यह सब तो बाहरी और ऊपरी बातें हैं। जवाहरलालजीका असली मूल्य तो इसमें है कि वह तत्पर और जाग्रत व्यक्ति है। उस निर्मम तत्परता और जिज्ञासु जागृतिकी छाप पुस्तकमें है और इसीसे पुस्तक सुन्दर और स्थायी साहित्यकी गणनामें रह जायगी।



आप क्या करते हैं ?

जब पहले पहल दो व्यक्ति मिलते हैं तो परस्पर पूछते हैं, 'आपका शुभ नाम ?' नामके बाद अगर आगे बढ़नेकी वृत्ति हुई तो पूछते हैं, 'आप क्या करते हैं ?'

'क्या करते हैं ?' इसके जवाबमें एक दूसरेको मालूम होता है कि उनमेंसे एक वकील है, दूसरा डाक्टर है। इसी तरह वे आपसमें दूकानदार, मुलाजिम, अध्यापक, इंजीनियर आदि आदि हुआ करते हैं।

पर इस तरहके प्रश्नके जवाबमें मैं हक्का-बक्का रह जाता हूँ। मैं डाक्टर भी नहीं हूँ, वकील भी नहीं हूँ, कुछ भी ऐसा नहीं हूँ जिसको कोई संज्ञा ठीक ठीक ढँक सके। बस वही हूँ जो मेरा नाम है। मेरा नाम दयाराम है तो दयाराम मैं हूँ। नाम रहीमबख्श होता तो मैं रहीमबख्श होता। 'दयाराम' शब्दके कुछ भी अर्थ होते हों, और 'रहीमबख्श'के भी जो चाहे माने हों, मेरा उनके मतलबसे कोई मतलब नहीं है। मैं जो भी हूँ वही बना रहकर दयाराम या रहीमबख्श रहूँगा। मेरा सम्पूर्ण और सच्चा परिचय इन नामोंसे आगे होकर नहीं रहता, न भिन्न होकर रहता है। इन नामोंके शब्दोंके अर्थतक भी वह परिचय नहीं जाता। क्योंकि, नाम नाम है, यानी, वह ऐसी वस्तु है जिसका अपना आपा कुछ भी नहीं है। इसलिए, उस नामके भीतर सम्पूर्णतासे मैं ही हो गया हूँ।

खैर, वह बात छोड़िए। मुझसे पूछा गया, 'आपका शुभ

आप क्या करते हैं ?

नाम ? ' मैंने बता दिया—' दयाराम ' । दयाका या और किसीका राम मैं किसी प्रकार भी नहीं हूँ । पर किसी अतर्क्य पद्धतिसे मेरे दयाराम हो रहनेसे उन पूछनेवाले मेरे नए मित्रको मेरे साथ व्यवहार-वर्णन करनेमें सुभीता हो जायगा । जहाँ मैं दीखा, बड़ी आसानीसे पुकार कर वह पूछ लेंगे, ' कहो दयाराम, क्या हाल है ? ' और मैं भी बड़ी आसानीसे दयारामके नामपर हँस-बोल कर उन्हें अपना या इधर-उधरका जो हाल-चाल होगा बता दूँगा ।

यहाँतक तो सब ठीक है । लेकिन, जब यह नए मित्र आगे बढ़ कर पूछते हैं, ' भाई, करते क्या हो ? ' तब मुझे मालूम होता है कि यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? ' क्या करूँ ' का प्रश्न तो मुझे अपने पग-पग आगे बैठा दीखता है । जी होता है, पूछूँ, ' क्या आप बताइएगा, क्या करूँ ? ' मैं क्या क्या बताऊँ कि आज यह यह किया ।—सबेरे पाँच बजे उठा; छह बजे घूम कर आया; फिर बच्चेको पढ़ाया; फिर अखबार पढ़ा; फिर बगीचेकी क्यारियाँ सींचीं; फिर नहाया, नाश्ता किया,—फिर यह किया, फिर वह किया । इस तरह अब तीन बजेतक कुछ न कुछ तो मुझसे होता ही रहा है, यानी मैं करता ही रहा हूँ । अब तीसरे पहरके तीन बजे यह जो मिले है नए मित्र, तो इनके सवालपर क्या मैं इन्हें सबेरे पाँचसे अब तीन बजेतककी अपनी सब कार्रवाइयोंका बखान सुना जाऊँ ? लेकिन, शायद, यह वह नहीं चाहते । ऐसा मैं करूँ तो शायद हमारी उगती हुई मित्रता सदाके लिए वहीं अस्त हो जाय । यदि उनका अभिप्राय वह जानना है जो उनके प्रश्न पूछनेके समय मैं कर रहा हूँ, तो साफ है कि मैं उनका प्रश्न सुन

रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ । तब क्या यह कह पड़ूँ कि, ' मित्रवर, मैं आपकी बात सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ । ' नहीं, ऐसा कहना ठीक न होगा । मित्र इससे कुछ समझेंगे तो नहीं, उल्टा बुरा मानेंगे । दयाराम मूर्ख तो हो सकता है, पर बुरा होना नहीं चाहता । इसलिए, उस प्रश्नके जवाबमें मैं, मूर्खका मूर्ख, कोरी निगाहसे बस उन्हे देखता रह जाता हूँ ।—बल्कि, थोड़ा-बहुत और भी आतिरिक्त मूढ़ बनकर लाजमें सकुच जाता हूँ । पूछना चाहता हूँ कि ' कृपया आप बता सकते हैं कि मैं क्या करूँ ?—यानी क्या कहूँ कि यह करता हूँ ? '

किन्तु, यह सौभाग्यकी बात है कि मित्र अधिकतर कृपापूर्वक यह जान कर संतुष्ट होते हैं कि दयाराम मेरा ही नाम है । वह नाम अखबारोंमें कभी कभी छपा भी करता है । इससे, दयाराम होनेके बहाने मैं बच जाता हूँ । यह नामकी महिमा है । नहीं तो, दिनमें जाने कितनी बार मुझे अपनी मूढ़ताका सामना करना पड़े ।

आज अपने भाग्यके व्यंग्यपर मैं बहुत विस्मित हूँ । किस बड़भागी पिताने इस दुर्भाग्यी बेटेका नाम रक्खा था 'दयाराम' । उन्हे पा सकूँ तो कहूँ, ' पिता, तुम खूब हो ! बेटा तो डूबने ही योग्य था, किंतु तुम्हारे दिये नामसे ही वह भोला, चतुर मित्रोंसे भरे, इस दुनियाके सागरमें उतराता हुआ जी रहा है । उसी नामसे वह तर जाय तो तर भी जाय । नहीं तो, डूबना ही उसके भाग्यमें था । पिता, तुम जहाँ हो, मेरा प्रणाम लो । पिता, मेरा विनीत प्रणाम ले लो । उस प्रणामकी कृतज्ञताके भरोसे ही, उसीके लिए, मैं जी रहा हूँ, जीना भी चाहता हूँ पिता, नहीं तो, मैं एकदम मतिमंद हूँ और जाने क्यों जीने-लायक हूँ ! '

आप क्या करते हैं ?

पर आपसे बात करते समय पिताकी बात छोड़ूँ। अपने इस जीवनमें मैंने उन्हें सदा खोया पाया। रो-रोकर उन्हें याद करनेसे आपका क्या लाभ ? और आपको क्या, मुझे क्या—दोनोंको आपके लाभकी बात करनी चाहिए।

तो मैंने कहा, 'कृपापूर्वक बताइए, क्या करूँ ? बहुत भटका, पर मैंने जाना कुछ नहीं। आप मिले हैं, अब आप बता दीजिए।'

उन नए मित्रने बताया कुछ नहीं, वे बिना बोले आगे बढ़ गये। मैं भी चला। आगे उन्हें एक अन्य व्यक्ति मिले। पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

उत्तर मिला, 'मैं डाक्टर हूँ।'

सज्जन मित्रने कहा, 'ओः आप डाक्टर है। बड़ी खुशी हुई। नमस्ते डाक्टरजी, नमस्ते। खूब दर्शन हुए। कभी मकानपर दर्शन दीजिए न।—जी हाँ, यह लीजिए मेरा कार्ड।.....रोडपर.....कोठी है।—जी हाँ, आपकी ही है। पधारिएगा। कृपा कृपा। अच्छा, नमस्ते।'

मुझे इन उद्गारोंपर बहुत प्रसन्नता हुई। किन्तु, मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे दयाराम होनेसे उन व्यक्तिका डाक्टर होना किसी कदर अधिक ठीक बात है। लेकिन, दयाराम होना भी कोई ग़लत बात तो नहीं है।

किन्तु, मित्रवर कुछ आगे बढ़ गये थे। मैं भी चला। एक तीसरे व्यक्ति मिले। कोठीवाले मित्रने नाम-परिचयके बाद पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

'वकील हूँ।'

'ओः वकील है। बड़ी प्रसन्नताके समाचार हैं। नमस्ते, वकील

साहब नमस्ते । मिलकर भाग्य धन्य हुए । मेरे बहनोईका भतीजा इस साल लॉ फाइनलमें है । मेरे लायक खिदमत हो तो बतलाइए । जी हाँ, आपहीकी कोठी है । कभी पधारिएगा । अच्छा जी नमस्ते, नमस्ते नमस्ते । '

इस हर्षोद्गारपर मैं प्रसन्न ही हो सकता था । किन्तु, मुझे लगा कि बीचमे वकीलताके आ उपस्थित होनेके कारण दोनोंकी मित्रताकी राह सुगम हो गई है ।

यह तो ठीक है । डॉक्टर या वकील या और कोई पेशेवर होकर व्यक्तिकी मित्रताकी पात्रता बढ़ जाय इसमें मुझे क्या आपत्ति ? इस संबंधमें मेरी अपनी अपात्रता मेरे निकट इतनी सुस्पष्ट प्रकट है, और वह इतनी निविड़ है कि उस बारेमें मेरे मनमें कोई चिंता ही नहीं रह गई है । लेकिन, मुझे रह-रहकर एक बातपर अचरज होता है । प्रश्न जो पूछा गया था वह तो यह था कि, 'आप क्या करते हैं ?' उत्तरमें डाक्टर और वकीलने कहा कि वे डाक्टर और वकील हैं । मुझे अब अचरज यह है कि उन प्रश्नकर्त्ता मित्रने मुझ-कर फिर क्यों नहीं पूछा कि, 'यह तो ठीक है कि आप डाक्टर और वकील हैं । आप डाक्टर रहिए, आप वकील रहिए । लेकिन, कृपया, आप करते क्या हैं ?'

समझमें नहीं आता कि प्रश्नकर्त्ता मित्रने अपने प्रश्नको फिर क्यों नहीं दोहराया, लेकिन, मतिमूढ़ मैं क्या जानूँ ? प्रश्नकर्त्ता तो मुझ जैसे कमसमझ नहीं रहे होंगे । इसलिए, डाक्टर और वकीलवाला जवाब पाकर वह असली भेदकी बात समझ गये होंगे । लेकिन, वह असली बात क्या है ?

आप क्या करते हैं ?

खैर, इन उदाहरणोंसे कामकी सीख लेकर मैं आगे बढ़ा । राहमें एक सदमिप्राय सज्जन मिले जिन्होंने पूछा—

‘आपका शुभ नाम ?’

‘दयाराम ।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं कायस्थ हूँ, श्रीवास्तव ।’

‘जी नहीं, आप करते क्या है ?’

‘मैं श्रीवास्तव कायस्थ हूँ । पाँच बजे उठा था, छः बजे घूम कर लौटा, फिर...और फिर...’

लेकिन, देखता क्या हूँ कि वह सज्जन तो मुझे बोलता ही हुआ छोड़कर आगे बढ़ गये है, पीछे घूमकर देखना भी नहीं चाहते । मैंने अपना कपाल ठोक लिया । यह तो मैं जानता हूँ कि मैं मूढ़ हूँ । बिलकुल निकम्मा आदमी हूँ । लेकिन, मेरे श्रीवास्तव होनेमें क्या गलती है ? कोई वकील है, कोई डाक्टर है । मैं वकील नहीं हूँ, डाक्टर भी नहीं हूँ । लेकिन, मैं श्रीवास्तव तो हूँ । इस बातकी तसदीक दे और दिला सकता हूँ । अखबार वाले ‘दयाराम श्रीवास्तव’ छाप कर मेरा श्रीवास्तव होना मानते हैं । मतलब यह नहीं कि मेरी श्री वास्तव है, न यही कि कोई वास्तव श्री मुझमें है; लेकिन जो मेरे पिता थे वही मेरे पिता थे । और वह मुझे अकाट्य रूपसे श्रीवास्तव छोड़ गये हैं । जब यह बात बिलकुल निर्विवाद है तो मेरे श्रीवास्तव होनेकी सत्यताको जानकर नए परिचित वैसे ही आश्चर्य क्यों नहीं होते जैसे किसीके वकील या डाक्टर होनेकी सूचनापर आश्चर्य होते हैं ?

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं डाक्टर हूँ ।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं वकील हूँ ।’

‘तुम क्या करते हो ?’

‘मैं श्रीवास्तव हूँ ।’

मैं श्रीवास्तव तो हूँ ही । इसमें रस्ती-भर झूठ नहीं है । फिर, मेरी तरहका जवाब देनेपर वकील और डाक्टर भी बेवकूफ क्यों नहीं समझे जाते ?

वे लोग मेरे जैसे, अर्थात् बेवकूफ, नहीं है यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ । तब फिर उनके वकील होनेसे भी अधिक मैं श्रीवास्तव होकर बेवकूफ किस बहाने समझ लिया जाता हूँ, यह मैं जानना चाहता हूँ ।

‘मूर्ख !’ एक सद्गुरुने कहा, ‘तू कुछ नहीं समझता । अरे, डाक्टर डाक्टरी करता है, वकील वकालत करता है । तू क्या श्रीवास्तवी करता है ?’

यह बात तो ठीक है कि मैं किसी ‘श्री’ की कोई ‘वास्तवी’ नहीं करता । लेकिन, सद्गुरुके ज्ञानसे मुझमें बोध नहीं जागा । मैंने कहा, ‘जी, मैं कोई श्रीवास्तवी नहीं करता हूँ । लेकिन, वह वकालत क्या है जिसको वकील करता है ? और वह डाक्टरी क्या है जिसको डाक्टर करता है ?’

‘अरे मूढ़ !’ उन्होंने कहा, ‘तू यह भी नहीं जानता ! अदालत जानता है कि नहीं ? अस्पताल जानता है कि नहीं ?’

‘हाँ’, मैंने कहा, ‘वह तो जानता हूँ।’

‘तो बस’ गुरूने कहा, ‘अदालतमें वकील वकालत करता है। अस्पतालमें डाक्टर डाक्टरी करता है।’

‘अजी, तो वकालतको वह ‘करता’ क्या है। जैसे मैं खाना खाता हूँ, यानी, खानेको मैं खा लेता हूँ, वैसे वह वकालतको क्या करता है ?’

‘अरे तू है मूढ़ !’ उन्होंने कहा, ‘सुन, वह अदालतके हाकिमसे बोलता है, बतलाता है, बहस करता है, कानूनी बात निकालता है। कानूनमें फँसे लोगोकी वही तो सार-सँभाल करता है।’

‘तो यह बात है कि वह बात करता है, बतलाता है, बहस करता है। कानूनकी बात निकालता है, उसके सताए आदमियोकी मदद करता है। लेकिन, आप तो कहते थे कि वह ‘वकालत’ करता है। वकालतमें बात ही तो करता है। फिर, ‘वकालत’ कहाँ हुई?— बात हुई। बात तो मैं भी कर रहा हूँ। क्यों जी ?’

उन्होंने झल्लाकर कहा, ‘अरे, इस सब कामको ही वकालत कहते हैं।’

‘तो वकालत करना, बात करना है। मैं तो सोचता था, न जाने वह क्या है। अच्छा जी, वकालतको करके वह क्या करता है?—यानी, अदालतमें वह बहुत बातें करता है। उन बातोंको करके भी, वह क्या करता है ?’

उन्होंने कहा, ‘रे मतिमंद, तू कुछ नहीं जानता। बातोंहीका तो काम है। बात बिना क्या ? वकीलके बातोंके ही तो पैसे हैं। उन बातोंसे वह जीता है, और फिर उन्हींसे बड़ा आदमी बनता है।’

उन बातोंको करके वह बड़ा आदमी बनता है,—अब मैं समझ गया, जी । लेकिन जो बड़ा नहीं है, आदमी तो वह भी है न—क्यों जी ? मैं दिनभर सच-भूठ बात करूँ तो मैं भी बड़ा हो जाऊँ ? और बड़ा न होऊँ, तब भी मैं आदमी रहा कि नहीं रहा ? ’

उन्होंने कहा, ‘ तू मूढ़ है । बड़ा तू क्या होगा ? तू आदमी भी नहीं है । ’

‘ लेकिन जी, बात तो मैं भी करता हूँ । अब कर रहा हूँ कि नहीं ? लेकिन, फिर भी मैं अपनेको निकम्मा लगता हूँ । ऐसा क्यों है ? ’

‘ अरे तू मतलबकी, कामकी बात जो नहीं करता है ! ’

‘ अजी, तो बात करनेका काम तो करता हूँ ! यह कम मतलब है ? ’

वह बोले, ‘ अच्छा, जा जा, सिर न खा । तू गधा है । ’

अब यह बात तो मैं जानता हूँ कि गधा नहीं हूँ । चाहूँ तो भी नहीं हो सकता । गधेकी तरह सींग तो अगर्चे मेरे भी नहीं हैं, लेकिन, इतना मेरा विश्वास मानिए कि यह साम्य होनेपर भी गधा मैं नहीं हूँ । मैं तो दयाराम हूँ । कोई गधा दयाराम होता है ? और मैं श्रीवास्तव हूँ,—कोई गधा श्रीवास्तव होता है ? वकील-डाक्टर नहीं हूँ, लेकिन श्रीवास्तव तो मैं हर वकालत-डाक्टरोंसे अधिक सचाईके साथ हूँ । इसलिए, उन गुरुजनके पाससे मैं चुपचाप भले आदमीकी भाँति सिर मुकाकर चला आया ।

लेकिन, दुनियामें वकील-डाक्टर ही सब नहीं है । यों तो इस दुनियामें हम-जैसे लोग भी हैं जिनके पास बतानेको या तो अपना नाम है या बहुत-से बहुत कुल-गोत्रका परिचय है ! इसके अलावा

आप क्या करते हैं ?

जिन्होंने इस दुनियामें कुछ भी अर्जित नहीं किया है, ऐसे अपने जैसे लोगोकी तो इनमें गिनती क्या कीजिए ! पर सौभाग्य यह है कि ऐसे लोग बहुत नहीं हैं । अधिकतर लोग संभ्रान्त है, गणनीय हैं, और उनके पास बतानेको काफी कुछ रहता है ।

‘ आप क्या करते हैं ? ’

‘ बैकर हूँ ।—जी हाँ, साहूकार । ’

‘ आप क्या करते हैं ? ’

‘ कारोबार होता है । बम्बई, कलकत्ता, हाँगकाँगमें हमारे दफ्तर है । ’

‘ आप क्या करते हैं ? ’

‘ मैं एम० ए० पास हूँ । ’

‘ आप क्या करते हैं ? ’

‘ मैं एम० एल० ए० हूँ,—लाट साहबकी कौंसिलका मेंबर । ’

‘ आप क्या करते हैं ? ’

‘ ओः ! आप नहीं जानते ? हूँ,—हूँ हूँ : राजा चंद्रचूड़सिंह मुझे ही कहते हैं । गोपालपुर,—८६ लाखकी स्टेट, जी हाँ, आपकी ही है । ’

‘ आप क्या करते हैं ? ’

‘ मुझ राजकविसे आप अनभिज्ञ हैं ? मैं कविता करता हूँ । ’

‘ कविता ! उसका क्या करते हैं ? ’

‘ श्रीमान्, मैं कविता करता हूँ । मैं उसीको कर देता हूँ, साहब । और क्या करूँगा ? ’

अत्यन्त हर्षके समाचार हैं कि बहुत लोग बहुत-कुछ करते हैं

और लगभग सब लोग कुछ न कुछ करते हैं । लेकिन, मेरी समझमें न बहुत आता है न कुछ आता है ।

दुकानपर बैठे रहना, गाहकसे मीठी बात करना और पटा लेना, उसकी जेबसे पैसे कुछ ज्यादा ले लेना और अपनी दुकानसे सामान उसे कुछ कम दे देना,—व्यापारका यही तो 'करना' है ! इसमें 'किया' क्या गया ?

पर क्यों साहब, किया क्यों नहीं गया ? कसकर कमाई जो की गई है ! एक सालमें तीन लाखका मुनाफ़ा हुआ है,—आपको कुछ पता भी है ! और आप कहते हैं किया नहीं गया !

लेकिन, दयाराम सच कहता है कि, दो रोज़के भूखे अपने समूचे तनको और मनको लेकर भी, उन तीन लाख मुनाफ़ेवालोंका काम उसे समझमें नहीं आता है ।

और साहूकार रुपया दे देता है और ब्याज सँभलवा लेता है । —देता है उसी इकडे हुए ब्याजमेंसे । देता कम है, लेता ज्यादा है । इससे वह साहूकार होता जाता है और मोटा होता जाता है ।

अगर वह दे ज्यादा और ले कम,—तो क्या हम यह कहेंगे कि उसने काम कम किया ? क्यों ? उसने तो देनेका काम खूब किया है ! लेकिन, इस तरह एक दिन आएगा कि वह साहूकार नहीं रहेगा और निकम्मे आदमियोंकी गिनतीमें आ जायगा ।

तो साहूकारी 'काम' क्या हुआ ? खूब काम करके भी आदमी जब निकम्मा बन सकता है तो उससे तो यही सिद्ध होता है कि साहूकारी अपने आपमें कुछ 'काम' नहीं है ।

और राजा, राजकवि, कौंसिलर, एम० ए० पास,—ये सब जो जो भी हैं क्या वह वह मेरे अपने श्रीवास्तव होनेसे अधिक है ? मैं श्रीवास्तव

मरोसा अब भी कायम था । ताज्जुब है, क्यों कायम था, क्यों उठ नहीं चुका था ! वह बिना पैसा पाये आसानीसे डिब्बा न छोड़ते थे । इस डिब्बेसे वह डिब्बा और फिर अगला डिब्बा और फिर अगला और—

अजब हैरानी तो यह है कि मैं उन्हें देखकर फिर भी देखता ही रह गया । क्यों नहीं उधरकी खिड़की चढ़ाकर मैं अपना अँग्रेजी जासूसी नाविल पढ़ने लगा ? सचमुच ख्याल आता है कि इतनी ज़रा-सी समझ मुझे उस वक्त क्यों न हुई ! नाविल मजेदार था और हिज़ लार्डीशिपके क़त्लका भेद कुछ इस तरीक़ेसे खुलता जाता था कि हर लेडीशिप परेशान थीं और अग़लब था कि क़त्लमें मुर्दई यानी हर लेडीशिपकी शरकत ही न साबित हो जाय ! नाविलके उस संगीन मामलेको छोड़कर इधर इन बाहियात भिखमंगे लड़के-लड़कियोंकी बदनसीबी देखनेमें लग जाना सरासर हिमाक़त थी, लेकिन फिर भी मैं उस तरफ़ क्यों देखता रह गया, यह ताज्जुब है ।

आख़िर वे मेरे डिब्बेके नीचे ही आ खड़े हुए । मैंने फ़िड़क कर कहा—हटो, हटो !

—बाबू, तुम्हारे लड़के-बच्चे जियें ! बाबू, तुम्हें राजपाट मिले ! बाबू, तुम्हारी नौकरी बढ़े ! बाबू, तुम्हें धन मिले ! बाबू, एक पैसा !

मैंने कहा—यह सेकिंड क्लास है ! हटो, हटो ! !

—बाबू, तुम्हारे औलाद-पुत्तर जियें ! बाबू, तुम्हें धन मिले ! तुम्हें राज्य मिले ! नौकरी बढ़े ! बाबू, एक पैसा !

मैंने फ़िड़ककर कहा—क्या है ? भीख माँगते शर्म नहीं आती है ? आगे बढ़ो, आगे बढ़ो !

इस मुँडमे पीछेकी तरफ़ एक लड़की खड़ी थी। दस वरसकी उसकी उम्र होगी। वह सबसे डरपोक थी, शर्मीली थी और पीछे पीछे रहती थी। वह सबसे दुबली थी और आँखें उसकी सबसे बड़ी थीं। वह मुँहसे कुछ भी नहीं कहती थी, बस आँखोंसे देखकर रह जाती थी। ऐसा मालूम होता था कि एक डिब्बेके सामने खड़े होकर वह किसी एक आदमीपर आँखें गड़ा लेती थी। जब मुँड चलता, वह भी चल पड़ती थी। उससे पहले वहाँसे आँख न हटाती थी। मैंने देखा, उसकी आँखें मुझपर एक-टक गड़ गई है। इतनेमें अगले, शायद तीसरे दर्जेके, डिब्बेसे किसीने उसी लड़कीको मुखातिब करके एक पैसा पीछेकी तरफ़ फेका। पैसा गिरा, कई बच्चे झपटे। लड़की नज़दीक थी और पैसा झट झपट कर उसने उठा लिया। इतनेमें देखता क्या हूँ कि एक लड़का उसपर झपट पड़ा है और उसकी गत बना कर पैसा उसने छीन लिया है। बाल उसके और फैल गये हैं, तनपर खरौंच लग गई है, लेकिन लड़की फिर वैसी ही गुम-सुम सूनी आँखोंसे मेरे डिब्बेमे मुझे देखती हुई वहीं खड़ी हो गई है !

इतनेमे रेल चल दी। पहले तो लड़की खड़ी ही रही, फिर दौड़कर मेरे डिब्बेके पास आ गई और साथ साथ भागने लगी।
—बाबू ! एक पैसा !

वह साथ साथ भागती रही। प्लेटफ़ार्मका करीब करीब किनारा ही आ गया था। मैंने पैसा निकाला और उसकी तरफ़ फेंक दिया।
—जी हाँ, यह बेवकूफी भी की !

वह तो, खैर, हुआ, लेकिन सवाल यह है कि मेरी परेशानीका

सबब क्या है ? यह सही है कि भिखमंगे नहीं होने चाहिए । लेकिन, यह सही क्यों है कि अगर भिखमंगे हैं तो मुझे परेशान होना चाहिए,—मेरा क्या जिम्मा है ? मैं तो भिखारी नहीं हूँ । मेरे पास तो पैसा है और मैं तो चैनसे रह सकता हूँ । फिर रहें भिखारी तो रहें ! मेरा उनसे क्या सरोकार है ? क्या वास्ता है ?

लेकिन, सवाल तो असल यही है कि मैं जानता हूँ, ताहम मैं परेशान हूँ । आखिर किस वजहसे परेशान हूँ ? सबब क्या ? अलीगढ़ स्टेशन अब कोसों दूर गया । मैं नई दिल्लीकी कोठीमें हूँ । यहाँ बीबी है, बच्चे हैं, लायब्रेरी है, दोस्त-अहबाब है, सिनेमा-तमाशे हैं । तब फिर मेरा दिल आराम क्यों नहीं पा रहा है ?

क्या मैं समझता हूँ कि मेरा एक पैसा हालातमें कुछ भी फर्क डालेगा ? पैसा न देता तो क्या कोई खास खराबी हो जाती ? ताहम एक पैसा मैंने निकाल फेंका, वह क्यों ?

सवाल यही है कि क्यों मैं पैसा दे छूटा ? भिखमंगा मेरा कौन था ? कौन है ? किस इख्तियारसे, किस हकसे, वह मेरे दिलके सकूनमें दखलन्दाज होता है ?

क्यों कर उसे यह जुरअत है ? क्यों वह मेरे दिमागका पीछा करता है ? किसने उसे यह इजाजत दी ? क्यों उन्हें कोई जेलखानेमें बन्द नहीं कर देता ?—मेरी आँखोंसे दूर रहें ।—लेकिन, क्या जेलखानेमें होकर मुझसे दूर वह हो जाएँगे ? हकीकतन, हो जाएँगे ?

जी हाँ,—सवाल यह है । यह सवाल बड़ा है और मुझे परेशान कर रहा है । यही मुझमें भरा है और इस वक्त मैं आपकी कहानी-वहानी कुछ नहीं जानता ।

थोड़ी देर बाद हरीशने कहा—अच्छा बताओ विमला, मेह कौन बरसाता है ?

विमला—बादल बरसाते हैं ।

हरीश—बादल नहीं बरसाते है !

विमला—तो कौन बरसाता है ?

हरीशने बताया—रामजी बरसाते हैं ।

उस समय मुझसे रुका न गया और चलता हुआ मैं पास पहुँच गया; कहा—कोई भी मेह नहीं बरसाता जी । इतनी देरसे बादल भर रहे हैं । बताओ, कहीं मेह बरस भी रहा है ? (और मैंने विमलाको गोदीमे उठा लिया) और क्यों जी हरीश बाबू, तुम्हारा रामजी मेह जल्दी क्यों नहीं बरसाता है, क्या बैठा सोच रहा है ?

हरीश लजा गया और विमला भी लजा गई ।

पंडितजीकी कथा सुनकर मुझे वह बालकोंवाला रामजी याद आ गया । पंडितजीवाले रामचन्द्रजी, जो बाकायदा दशरथके पुत्र है और जो निश्चित घड़ीमें जन्म लेते हैं, क्या वही है जो बालकोंका मेह बरसाते है ? दशरथके पुत्र रामचन्द्रजी तो पंडितजीकी पंडिताईके मालूम हुए । बादलोके ऊपर, आसमानके भी ऊपर, सभी कुछुके ऊपर, फिर भी सब कहीं जो एक अनिश्चित आकार-प्रकारके रामजी रहा करते है, मेह तो वह बरसाते है । वह रामजी पंडिताईके नहीं, वह तो बालकोके बालकपनके ही दीखते है । मैं सोचने लगा कि पंडितका पाण्डित्य क्या सचमुच बच्चेके बचपनसे गम्भीर सत्य नहीं है ? बालकका रामजी, जिसका उसे कुछ भी ठीक अता-पता नहीं है, उन राजा रामचन्द्रसे, जिनका रत्ती रत्ती

ब्यौरा पंडितजीको मालूम है, क्या कभी जीत सकेगा ? क्या बालक बालक और पण्डित महान् नहीं है ? लेकिन वहाँ बैठे बैठे मुझे प्रतीत हुआ कि दशरथके पुत्रवाले रामचन्द्रमें, जो कि पण्डितकी व्याख्याओंमें प्रत्यक्षतः अधिकाधिक ठोस होते जा रहे हैं, मेरे मनको उतनी प्रीति नहीं प्राप्त होती है जितनी बच्चोंके 'रामजी' में । बच्चोंका रामजी, कुछ हो, मुझे प्यारा तो मालूम होता है ।

तभी पण्डितजीकी ओर मेरी निगाह गई । उन्होंने मुखपर हाथ फेरा, केशोंको तनिक सँवारा, शिखा ठीक की, किंचित् स्मितसे मुस्कराये और अत्यन्त सुरीली वाणीमें तनिक अतिरिक्त मिठासके साथ ताल-लयके अनुसार रामायणकी चौपाई गा उठे ।

उनके निर्दोष गायन और पाण्डित्य-पूर्ण वक्तृत्वसे प्रभावित होकर मैं सोचने लगा कि क्या सचमुच इस समय पंडितजीके निकट अपना वाणी-विलास, अपना वाक्-कौशल, अपनी ही सत्ता दशरथ-पुत्रकी सत्तासे अधिक प्रमुख और अधिक प्रलोभनीय नहीं है ? मुझको ऐसा लगा कि उन पुण्यश्लोक रामचन्द्रको तो मैं मानूँ या न भी मानूँ; पर उनकी कथाको लेकर इन पंडितजीके मुँहसे अविराम निकलती हुई सुललित वाग्धाराको तो मुझे प्रामाण्य मानना ही होगा,—कुछ ऐसा जादू पंडितजीमें था । मुझे प्रतीत हुआ कि राम-कथा साधन है, साध्य तो रामकथाका सुमिष्ट वाचन है । राम तो राम थे; वह कभी रहे होंगे; पर आज तो देखो, यह पंडितजी उस कथाका कैसा सुन्दर पारायण करते हैं ! कहो, पण्डितजी श्लाघनीय नहीं है ?

मुझको वे बच्चे याद हो आये जो रामजीकी यादमें जैसे सुध-बुध त्रिसार बैठे थे । उनके लिए रामजी चाहे कितना ही अरूप-अव्यक्त

हो; पर वह था । उस नामपर वे उत्साहित हो सकते थे, या चुप हो सकते थे । था तो वह बालकोंका बचपन ही, पर फिर भी वह बचपन उनका भाग था । 'राम'—यह मात्र शब्दके लिए न था, इससे कुछ बहुत अधिक था, बहुत अधिक था ।

पण्डितजीके दशरथ-पुत्र रामचन्द्र भी क्या वैसे उनके निकट हैं ? मुझे जानना चाहिए कि वह रामचन्द्र अधिक स-इतिहास है, उनका नाम-धाम, पिता-माता, सगे-सम्बन्धी, तिथि-व्यौरा, उनके बारेका सब कुछ यह पण्डितजी जानते हैं । वह रामचन्द्रजी आवश्यक-रूपमें अधिक प्रमाण-युक्त, शरीर-युक्त, तर्क-युक्त हैं । उनके सम्बन्धमें कम प्रश्न किये जा सकते हैं और लगभग सब प्रश्नोंका उत्तर पण्डितजीसे पाया जा सकता है । लेकिन, क्या इसी कारण वह रामचन्द्र पण्डितजीसे दूर और अलग नहीं बन गये हैं ? रामचन्द्र दशरथके पुत्र थे; पर पण्डितजी अपने पिताके पुत्र है । इसलिए रामचन्द्रजी जो रहे हों रहें, पण्डितजी तो पण्डित ही रहेंगे । हाँ, राम-कथा करना उनका काम हो गया है, सो बड़े सुन्दर ढंगसे वे उस कथाको कहेंगे । तदुपरांत, रामचन्द्र अलग वह अलग । उनका जीवन अपना जीवन है । वे जीवनका कोई भाग रामचन्द्र (के आदर्श) के हाथमे क्यों देगे ?

यह सोचते सोचते मैंने देखा कि राम-कथा-स्नेहसे भीगी पण्डितजीकी तल्लीन दृष्टि असावधान और कर्म-कठोर पुरुष-वर्गकी ओरसे हटकर, रह-रहकर, धर्म-प्राण भक्ति-प्रवण अबलाओंकी ओर अधिक आशा-भावसे बँध जाती है !

मुझे माछम हुआ, कि मैं पण्डितजीके रामचन्द्रको छोड़कर बालकोके रामजीकी ओर इस समय उठकर तनिक चला जाऊँ तो यह मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रका अपमान शायद न होगा ।

मैं उठा । इतनेमें पड़ोसी सज्जन लपककर पास आये, बोले—
बैठिए बैठिए, बाबूजी ।

मैंने कहा—मैं जाऊँगा ज़रा....

सज्जनने हाथ जोड़कर कहा—जाइएगा ? आपने बड़ी कृपा की ।
लीजिए, यह प्रसाद तो लेते जाइए ।

मैंने प्रसाद लिया और चला आया ।



जरूरी भेदाभेद

भेद

एसोसिएशनका सदस्य तो मैं नहीं हूँ, सदस्य कहींका भी नहीं हूँ, पर एक मित्र सदस्य हूँ, उनकी वजहसे कभी कभी यहाँ आ जाता हूँ। एसोसिएशनको ज्ञात हुआ है कि मैं विलायत गया हूँ, अँगरेजी बोल लेता हूँ, अतः मेरी उपस्थिति उन्हें अप्रिय नहीं होती।

यही क्यों, कुछ लोगोंसे वहाँ बेतकल्लुफी भी हो गई है। एक हूँ लाला महेश्वरनाथजी। बहुत जिन्दादिल आदमी हूँ। वकील हूँ, और अच्छे बड़े वकील हूँ। जायदाद भी है। अध्ययनशील हूँ और नये विचारोंके प्रशंसक हूँ। सार्वजनिक सेवाके कामोंमें अच्छा योग देते रहते हूँ। दिल खोलकर मिलते और बात करते हैं। मैं उनसे प्रभावित हूँ।

आज बीचमें मसला सोशलिज्मका था और बैठक सरगर्म थी।

महेश्वरजीको सोशलिज्मका कायल होनेसे कोई बचाव नहीं दीखता। उन्हें अचरज है कि कोई आदमी ईमानदार होकर सोशलिज्मको माने बिना कैसे रह सकता है।—यह सच्ची बात है, कोई जबरदस्ती सच्चाईसे आँख मीचना चाहे तो बात दूसरी; पर सोशलिज्म उजालेके समान साफ है। हम और आप उसके समर्थक हो सकते हैं, चाहें तो विरोधी हो सकते हैं। पर हमारे समर्थन और विरोधकी गिनती क्या है ? सोशलिज्म युग-सत्य है, वह युग-धर्म है।

मैं इस तरहकी बातोंके बीचमें कुछ विमूढ़ बन जाता हूँ,—सत्य क्या है, यह मैं नहीं जानता। और जब कोई निर्भ्रान्त होकर सामने

कहता है कि सत्य अमुक और अमुक है, तब मै ससम्भ्रम उसके चेहरेकी ओर देखकर सोच उठता हूँ 'क्या पता है कि वही सत्य हो। तुम स्वयं तो कुछ जानते हो नहीं, तब यही कैसे कह सकते हो कि वह सत्य नहीं है।'

महेश्वरजी कहते रहे कि "जी हाँ, सोशलिज्म युग-धर्म है। मनुष्य व्यक्ति बनकर समाप्त नहीं है। वह समाजका अङ्ग है। समाज व्यक्तिसे बड़ी सत्ता है। व्यक्तिगत परिभाषा खड़ी करके आदमी अपनेको बाँध लेता है, कहता है, 'यह मेरी चीज़, मेरी जायदाद।' इस तरह जितने व्यक्ति हैं उतने असंख्य स्वार्थ खड़े होते हैं। उन स्वार्थोंमें संघर्ष होता है और फलतः क्लेश उत्पन्न होता है। मनुष्यके कर्ममेंसे और कर्म-फलमेंसे उसका, यानी एक व्यक्तिका, स्वत्व-भाव उठ जाना चाहिए। एक संस्था हो जो समाजकी प्रतिनिधि हो, जिसमें समस्त केन्द्रित हो,—एक सोशलिस्ट स्टेट। वह संस्था स्वत्वाधिकारी हो,—व्यक्ति समाज-संस्थाके हाथमें हो, वह साधन हो, सेवक हो। और स्टेट (यानी वह संस्था) ही मूल व्यवसायोंकी मालिक हो, उपादानोंकी भी मालिक हो, भूमिकी भी मालिक हो और फिर पैदावारकी भी मालिक वही हो। व्यक्तिको आपाधापी न करने दी जाय।—देखिए न आज एक दास है दूसरा प्रभु है। एक क्यों,—जब दस दास हैं तब एक प्रभु है। लड़ाइयाँ होती हैं,—कमी देश-प्रेम और दायित्व-रक्षाके नामपर होती हैं पर असलमें वे लड़ाइयाँ प्रभुओंके स्वार्थोंमें होती हैं और उन्हींके पोषणके लिए होती हैं। उन युद्धोंमें हजारों-लाखों आदमी मरते हैं। पर उन लाखोंकी मौत उनको मोटा बनाती है जो युद्धके असली कारण होते हैं। यह हालत व्यक्ति-

स्वातन्त्र्यसे पैदा हुई है। मनुष्य पशु है,—वह एक सामाजिक पशु है, नैतिक पशु है, या और कुछ चाहे कहिए, पर वह है औसतन् पशु। समाजका शासन उसपर अनिवार्य है। स्वत्व सब समाजमें रहें, व्यक्ति निस्स्वत्व हो। व्यक्तिका धर्म आत्म-दान है, उसका स्वत्व कुछ नहीं है। उसका कर्तव्य सेवा है।—आज इसी जीवन-नीतिके आधारपर समाजकी रचना खड़ी करनी होगी। सोशलिज्म यही कहता है और उसके औचित्यका खंडन नहीं किया जा सकता।”

महेश्वरजीसे असहमत होनेके लिए मेरे पास अवकाश नहीं है पर उनकी-सी दृढ़ता भी मुझमें नहीं है और न उतनी साफ साफ बातें मुझे दीख पाती हैं। यह मैं जानता हूँ कि मानव पशु है, फिर भी मन इसपर सन्तुष्ट नहीं होता कि वह पशु ही है। पशु हो, पर मानव भी क्या वह नहीं है? और महेश्वरजीकी ओर सस्पृह-सम्भ्रमके साथ देखता रह जाता हूँ।

“आप कुछ कहिए, लेकिन मैं तो सोलह आने इस चीज़में बँध गया हूँ। आप जानते हैं, मेरे पास जायदाद है। लेकिन मैं जानता हूँ वह मेरी नहीं है। मैं प्रतीक्षामें हूँ कि कब स्थिति बदले और एक समर्थ और सदाशय सोशलिस्ट स्टेट इस सबको अपने जिम्मे ले ले। मैं खुशीसे इसके लिए तैयार होऊँगा। सोशलाइज़ेशन हुए बिना उपाय नहीं। यों उलझनें बढ़ती ही जायँगी। आप देखिए, मेरे दस मकान हैं, मैं अकेला हूँ। मैं उन सब दस मकानोंमें कैसे रह सकता हूँ? यह बिलकुल नामुमकिन है। फिर यह चीज़ कि वे दस मकान मेरे हैं, कहीं न कहीं झूठ हो जाती है,—ग़लत हो जाती है। जब यह मुमकिन नहीं है कि मैं दस मकानोंमें रह सकूँ, तब यह भी

नामुमकिन है कि वे दस मकान मेरे हो । किन्तु, यही असम्भवता आजका सबसे ठोस सत्य बनी हुई है । मैं कहता हूँ यह रोग है, मैं कहता हूँ यह झूठ है । लेकिन सोशलिस्ट स्टेट आनेमे दिन लग सकते हैं, तब तक मुझे यह बर्दाश्त ही करते रहना होगा कि वे दसो मकान मेरे हों और मैं उन्हें अपना मानूँ;—यद्यपि मैं अपने मनमे जानता हूँ कि वे मकान मुझसे ज्यादा उनके हैं जो अपनेको किरायेदार समझते हैं और जिन्हे उनकी ज़रूरत है । ”

इस स्थलपर एकाएक रुककर मेरी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा—क्यो कैलाश बाबू ?

शायद मैंने ऊपर नहीं कहा कि जिस मकानमें मैं रहता हूँ वह महेश्वरनाथजीका है । मैं उनके प्रश्नका कुछ उत्तर नहीं दे सका ।

उन्होंने फिर पूछा—क्यो कैलाश बाबू, आप क्या कहते हैं ? सोशलिज्ममे ही क्या समाजके रोगका इलाज नहीं है ? हमारी राज-नीतिके लिए क्या वही सिद्धान्त दिशा-दर्शक नहीं होना चाहिए ? हम कैसी समाज-रचना चाहते हैं, कैसी सरकार चाहते हैं, मनुष्योंके आपसी सम्बन्धोंके कैसे नियामक चाहते हैं ?—आप तो लिखा भी करते हैं, बताइए क्या कहते हैं ?

मैं लिखता तो हूँ, पर छोटी छोटी बातें लिखता हूँ । बड़ी बातें बड़ी माद्धम होती हैं । लेखक होकर जानते जानते मैंने यह जाना है कि मैं बड़ा नहीं हूँ, विद्वान् नहीं हूँ । बड़ी बातोंमें मेरा वश नहीं है । कहते हैं, लेखक विचारक होता है । मालूम तो मुझे भी कुछ ऐसा होता है । पर मेरी विचारकता छोटी छोटी बातोंसे

मुझे छुट्टी नहीं लेने देती । मैंने कहा—मैं इस बारेमें क्या कह सकता हूँ ।

महेश्वरजीने सहास प्रसन्नतासे कहा—बाह, आप नहीं कह सकते तो कौन कह सकता है ?

मैंने कहा—मुझे मालूम नहीं । मैंने अभी सोशलिज्मपर पूरा साहित्य नहीं पढ़ा है । पाँच-सात किताबें पढ़ी हैं । और सोशलिज्मपर साहित्य है इतना कि उसे पढ़नेके लिए एक जिन्दगी काफी नहीं है । तब मैं इस जिन्दगीमें उसके बारेमें क्या कह सकता हूँ ?

महेश्वरजीने कहा—भाई, बड़े चतुर हो ! बचना कोई तुमसे सीखे ।

पर मुझे जब इस तरह अपनी ही हारपर चतुराईका श्रेय दिया जाता है, तब मैं लज्जासे ढँक जाता हूँ । लगता है कि मेरी अज्ञानता कहीं उनके व्यङ्ग्यका विषय तो नहीं हो रही है ।

मैंने कहा—नहीं, बचनेकी तो बात नहीं—

महेश्वरजी बोले—तो क्या बात है, कहिए न ।

अपनी कठिनाई जतलाते हुए मैंने कहा कि जब मैं समाजकी समस्यापर विचारना चाहता हूँ, तभी अपनेको ठेलकर यह विचार सामने आ खड़ा होता है कि समाजकी समस्याके विचारसे मेरा क्या सम्बन्ध है । तब मुझे मालूम होता है कि सम्बन्ध तो है, और वह सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है । वास्तवमें मेरी अपनी ही समस्या समाजकी भी समस्या है । वे दोनों भिन्न नहीं हैं । व्यक्तिका व्यापक रूप समाज है । पर चूँकि मैं व्यक्ति हूँ, इसलिए समस्याका निदान और समाधान मुझे मूल-व्यक्तिकी परिभाषामें खोजना और पाना अधिक उपयुक्त और सम्भव मालूम होता है । इस भाँति, बात मेरे लिए

हवाई और शास्त्रीय कम हो जाती है और वह कुछ अधिक निकट, मानवीय और जीवित बन जाती है। मेरे लिए एक सवाल यह भी है कि मुझे रोटि मिले। मिलनेपर फिर सवाल होता है कि समझें, कैसे मिली ? इसी सवालके साथ लगा चला आता है पैसेका सवाल। वह पैसा काफी या और ज्यादा क्यों नहीं आया ? या कैसे आये ? क्यों आये ? वह कहाँसे चलकर मुझ तक आता है ? क्यों वह पैसा एक जगह जाकर इकट्ठा होता है और दूसरी जगह पहुँचता ही नहीं ? यह पैसा है क्या ?—ये और इस तरहके और और सवाल खड़े होते हैं। इन सब सवालोंके अस्तित्वकी सार्थकता तभी है जब कि मूल प्रश्नसे उनका नाता जुड़ा रहे। यह मैं आपको बताऊँ कि शङ्काकी प्रवृत्ति मुझमें खूब है। शङ्काओंके प्रत्युत्तरमें ही मेरा लेखन-कार्य सम्भव होता है। तब यह तो आप न समझिए कि मैं बहुत तृप्त और सन्तुष्ट जीवन जीता हूँ। लेकिन, सोशलिज्मके मामलेमें दखल देनेके लिए ऐसा माह्रम होता है कि मुझे विचारकसे अधिक विद्वान् होना चाहिए। विद्वान् मैं नहीं हो पाता। किताबें मैं पढ़ता हूँ, फिर भी वे मुझे विद्वान् नहीं बनातीं। मेरे साथ तो रोग यह लग गया है कि अतीतको मैं आजके सम्बन्धकी अपेक्षामें देखना चाहता हूँ, भविष्यका सम्बन्ध भी आजसे बिठा लेना चाहता हूँ और विद्याको जीवनपर कसते रहना चाहता हूँ। इसमें, बहुत-से अतीत और बहुत-से स्वप्न और बहुत-सी विद्यासे मुझे हाथ धोना पड़ता है। यह दयनीय हो सकता है और मैं कह सकता हूँ कि आप मुझे मुझपर छोड़ दे। सोशलिज्मका मैं कृतज्ञ हूँ, उससे मुझे व्यायाम मिलता है। वह अच्छे वार्तालापकी चीज़ है। लेकिन आज और

इस क्षण मुझे क्या और कैसा होना चाहिए, इसकी कोई सूझ इस 'इज़्म'मेंसे मुझे प्राप्त नहीं होती। मुझे मायूस होता है कि मैं जो कुछ हूँ, सोशलिस्टिक स्टेटकी प्रतीक्षा करता हुआ वही बना रह सकता हूँ और अपना सोशलिज़्म अखण्ड भी रख सकता हूँ। तब मैं उसके बारेमें क्या कह सकूँ ? क्योंकि मेरा क्षेत्र तो परिमित है न ? सोशलिज़्म एक विचारका प्रतीक है। विचार शक्ति है। वह शक्ति किन्तु 'इज़्म' की नहीं है, उसको माननेवाले लोगोंकी सचाईकी वह शक्ति है। लोगोंको जयजयकारके लिए एक पुकार चाहिए। किन्तु पुकारका वह शब्द मुख्य उत्साह है। उसीके कारण शब्दमें सत्यता आती है। सोशलिज़्मका विधान वैसा ही है, जैसा झण्डेका कपड़ा। झण्डेको सत्य बनानेवाला कपड़ा नहीं है, शहीदोंका खून है। सोशलिज़्मकी सफलता यदि हुई है, हो रही है, या होगी, वह नहीं निर्भर है इस बातपर कि सोशलिज़्म अन्ततः क्या है और क्या नहीं है, प्रत्युत वह सफलता अवलम्बित है इसपर कि सोशलिस्ट अपने जीवनमें अपने मन्तव्योंके साथ कितना अभिन्न और तल्लीन है और कितना वह निस्स्वार्थ है। और अपने निजकी और आजकी दृष्टिसे, अर्थात् शुद्ध व्यवहारकी दृष्टिसे, यह सोशल-इज़्म मुझे अपने लिए इतना वादमय, इतना हटा हुआ और अशास्त्रीय-सा तत्त्व ज्ञात होता है कि मुझे उसमें तल्लीनता नहीं मिलती। और मैं क्या कहूँ ? धर्मसे बड़ी शक्ति मैं नहीं जानता। पर जीवनसे कटकर जब वह एक मतवाद और पन्थका रूप धरता है, तब वही निर्वीर्यताका बहाना और

पाखण्डका गढ़ बन जाता है। सोशलिज्मको आरम्भसे ही एक वाद बनाया जा रहा है,—यह सोशलिज्मके लिए ही भयङ्कर है।

महेश्वरजीने कहा—आप तो मिस्टिक हुए जा रहे हैं कैलाश बाबू, पर इससे दुनियाका काम नहीं चलता। आप शायद वह चाहते हैं जो साथ साथ दूसरी दुनियाको भी सँमाले।

—हाँ, मैं वह चाहता हूँ जिससे सभी कुछ सँमले। जिससे समग्रतामें जीवनका हल हो। मुझे जीवन-नीति चाहिए, समाज अथवा राज-नीति नहीं। वह जीवन-नीति ही फिर समाजकी अपेक्षा राज-नीति बन जायगी। जीवन एक है, उसमें खाने नहीं है। जैसे कि व्यक्तिका वह सँमलना ग़लत है जो कि समाजको बिगाड़ता है, उसी तरह दुनियाका वह सँमलना ग़लत है जिसमें दूसरी दुनिया (अगर वह हो, तो उस) के बिगड़नेका डर है। आदमी करोड़पति हो, यह उसकी सिद्धि नहीं है। वह सम्पूर्णतः परार्थ-तत्पर हो, यही उसकी सफलता है। इसी तरह दुनियाकी सिद्धि दुनियबीपनकी अतिशयतामें नहीं है, वह किसी और बड़ी सत्तासे सम्बन्धित है।

—आपका मतलब धर्मसे है ?

—हाँ, वह भी मेरा मतलब है।

—लेकिन आप सोशलिज्मके खिलाफ तो नहीं है ?

—नहीं, खिलाफ नहीं हूँ। लेकिन—

—बस इतना ही चाहिए। 'लेकिन' फिर देखेंगे—

यह कहकर महेश्वरजीने तनिक मुसकराकर चारों ओर देखा और फिर सामने रखे एक आगसे भरे गिलासको उठाकर वह दूसरी ओर चले गये। मैं बैठा देखता रह गया और फिर....

अभेद

रात...

सब सो गये हैं और आसमानमें तारे घिरे हैं। मैं उनकी ओर देखता हुआ जागता हूँ। नींद आती ही नहीं। मेरा मन उन तारोंको देखकर विस्मय, स्नेह और अज्ञानसे भरा आता है। वे तारे हैं, छोटी छोटी चमकती बुन्दियोंके-से कैसे प्यारे प्यारे तारे ! पर उनमेसे हर एक अपनेमें एक विश्व है। वे कितने हैं ?—कुछ पार नहीं, कुछ भी अन्त नहीं। कितनी दूर हैं ?—कोई पता नहीं। हिसाबकी पहुँचसे बाहर, वे नन्हें नन्हें फ़िप फ़िप चमक रहे हैं। उनके तले कल्पना स्तब्ध हो जाती है। स्वर्णके चूर्णसे छाया, शान्त, सुन्न, सहास्य कैसा यह ब्रह्माण्ड है !—एकान्त, अछोर, फिर भी कैसा निकट, कैसा स्वगत !...मुझे नींद नहीं आती और मैं उसे नहीं बुलाना चाहता। चाहता हूँ, यह सब तारे मुझे मिल जायँ। वे मुझमें आ जायँ। मुझसे बाहर कुछ भी न रहे। सब कुछ मुझमें हो रहे, और मैं उनमें।

मैं अपनेको बहुत छोटा लगता हूँ, बहुत छोटा।—बिल्कुल बिन्दु, एक जर्ज़ा, एक शून्य। और इस समय जितना मैं अपनेको शून्य अनुभव करता हूँ, उतना ही मेरा मन भरता आता है। जाने कैसे, मैं अपनेको उतना ही बड़ा होता हुआ पाता हूँ। जैसे जीके भीतर आह्लाद भरा जाता हो, उमड़ा आता हो। मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। जो हूँ, समस्तकी गोदमें हूँ; और हूँ, तो बस इस ज्ञानके आनन्दके लिए हूँ कि सब है, सबमें मैं हूँ। मुझे मालूम होता है कि मेरी सीमाएँ मिट गई हैं, मैं खोया जा रहा हूँ, मिला जा रहा हूँ। मालूम होता है, एक गम्भीर आनन्द...

तारे उस नीले शून्यमें गहरेसे गहरे पैठे हैं। जहाँतक नीलिमा है, वहाँ तक वे है। यह स्वर्ण-कणोंसे भरा नीला नीला क्या है ? आकाश क्या है ? समय क्या है ? मैं क्या हूँ ?—पर जो हो, मैं आनन्दमें हूँ। इस समय तो मेरी अज्ञानता ही सबसे बड़ा ज्ञान है। मैं कुछ नहीं जानता, यही मेरी स्वतन्त्रता है। ज्ञानका बन्धन मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। तारोका अर्थ मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। मुझे उनका तारा-पन ही सब है, वही बस है। मैं उन्हें तारे ही समझूँगा, तारे बनाकर मैं उनमें अपनापन, अपना मन भिगोये रखता हूँ। मुझे नहीं चाहिए कोई ज्ञान। उस समस्तके आगे तो मैं बस इतना ही चाहता हूँ कि मैं सारे रोम खोलकर प्रस्तुत हो रहूँ। चारों ओर अपनेको छोड़ दूँ और भीतरसे अपनेको रिक्त कर दूँ कि यह निस्सीमता, यह समस्तता बिना बाधाके मुझे छुए और मेरे भीतर भर जाय।

लोग सो रहे हैं। रात बीत रही है। मुझे नींद नहीं है। और लोग भी होंगे, जिन्हे नींद न होगी। वे राजा भी हो सकते हैं, रङ्ग भी हो सकते हैं। अरे राजा क्या, रङ्ग क्या ? नींदके सामने कोई क्या है ? किसकी नींदको कौन रोक सकता है ? आदमी अपनी नींदको आप ही रोक सकता है। दुनियामें भेद-विभेद है, नियम कानून हैं। पर भेद-विभेद कितने ही हो, नियम-कानून कैसे ही हो,—रात रात है। जो नहीं सोते वे नहीं सोते, पर रात सबको सुलाती है। सब भेद-प्रभेद भी सो जाते हैं, नियम-कानून भी सो जाते हैं। रातमें रङ्गकी नींद राजा नहीं छीनेगा और राजाकी नींद भी रङ्गकी नींदसे प्यारी नहीं हो सकेगी। नींद सबको बराबर

समझेगी, वह सबको बराबरीमें डुवा देगी । नींदमें फिर स्वप्न आयेगे और वे, मनुष्यकी बाधा मिटाकर, उसे जहाँ वह चाहें, ले जायेंगे । रातको जब आदमी सोयेगा, तब प्रकृति उसे थपकेगी । आदमी दिन-भर अपने बीचमें खड़े किये विभेदोंके झगड़ोंसे झगड़कर जब हारेगा और हारकर सोयेगा, तब उसकी बन्द पलकोपर प्रकृति स्वप्न लहरायेगी । उन स्वप्नोंमें रङ्ग सोनेके महलोंमें वास करे तो कोई राजा उसे रोकने नहीं आयेगा । वह वहाँ सब सुख-सम्भोग पायेगा । राजा अगर उन स्वप्नोंमें सङ्कटके मुँहमें पड़ेगा और क्लेश भोगेगा तो कोई चाटुकार उसे इससे बचा नहीं सकेगा । राजा, अपनी आत्माको लेकर, मात्र स्वयं होकर ही अपनी नींद पायेगा । तब वह है और उसके भीतरका अव्यक्त है । तब वह राजा कहाँ है ?—मात्र वेचारा है । इसी प्रकार नींदमें वह रङ्ग भी मात्र अपनी आत्माके सम्मुख हो रहेगा । तब वह है और उसमें सन्निहित अव्यक्त है । तब वह वेचारा कहाँ रङ्ग है ! वह तब प्रकृत रूपमें जो है, वही है । .

उस रात्रिकी निस्तब्धतामें, आकाशके महाशून्यमें और प्रकृतिकी चौकसीमें अपनी मानवीय अस्मिताको खोकर,—सौंपकर मानव, शिशु बनकर, सो जाता है । पर फिर दिन आता है । तब आदमी कहता है कि वह जाग्रत् है । वह कहता है कि तब वह सावधान है । और जाग्रत् और सावधान बनकर वह मानव कहता है कि मानवतामें श्रेणियाँ हैं,—अभेद तो मिथ्या स्वप्न था, सार अथवा सत्य तो भेद है । तब वह कहता है कि मैं चेतन उतना नहीं हूँ, जितना राजा हूँ अथवा रङ्ग हूँ । स्वप्नसे हमारा काम नहीं चलेगा, काम ज्ञानसे चलेगा । ज्ञानका सच्चा नाम विज्ञान है । और वह विज्ञान यह है कि

मैं या तो गरीब हूँ या अमीर हूँ । दिनमें क्या अब उसने आँखें नहीं खोल ली है ? दिनमें क्या वह चीजोंको अधिक नहीं पहचानता है ? दिन रातकी तरह अँधेरा नहीं है; वह उजला है । तारे अँधेरेका सत्य हो, पर जाग्रत अवस्थामें क्या वे झूठ नहीं हैं ?—देखो न, कैसे दिनके उजालेमें भाग छिपे हैं । जाग्रत दिनके सत्यको कौन त्याग सकता है ? वही अचल सत्य है, वही ठोस सत्य है । और वह सत्य यह है कि तारे नहीं हैं, हम हैं । हमी हैं और हम जाग्रत हैं । और सामने हमारे हमारी समस्याएँ हैं । अतः मनुष्य कर्म करेगा, वह युद्ध करेगा, वह तर्क करेगा, वह जानेगा । नींद ग़लत है और स्वप्न भ्रम है । यह दुःखप्रद है कि मानव सोता है और सोना अमानवता है । अँधेरी रात क्या ग़लत ही नहीं है कि जिसका सहारा लेकर आसमान तारोंसे चमक जाता है, और दुनिया धुँधली हो जाती है ? हमें चारों ओर धूप चाहिए, धूप जिससे हमारे आसपासका छुट-बड़पन चमक उठे और दूरकी सब आसमानी व्यर्थता लुप्त हो जाय ।

मैं जानता हूँ, यह ठीक है । ठीक ही कैसे नहीं है ? लेकिन क्या यह भूल भी नहीं है ? और भूलपर स्थापित होनेसे क्या सर्वथा भूल ही नहीं है ? क्या यह ग़लत है कि नींदसे हम ताजा होते हैं और दिन-भरकी हमारी थकान खो जाती है ? क्या यह ग़लत है कि हम प्रभातमें जब जीतने और जीनेके लिए उद्यत होते हैं, तब सन्ध्यानन्तर नींद चाहते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि स्वप्नमें हम अपनी थकान खोते हैं, और फिर उन्हीं स्वप्नकी राह अपनेमें ताजगी भी भरते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि दिनमें हम व्यक्तके साथ इतने जड़ित और अव्यक्तके प्रति इतने जड़ होते हैं कि रातमें अव्यक्त,

व्यक्तको शून्य बनाकर, स्वयं प्रस्फुटित होता है और इस भाँति हमारे जीवनके भीतरकी समताको स्थिर रखता है ? क्या यह भी नहीं हो सकता कि हम स्वप्नमें विभेदको तिरस्कृत करके अभेदका पान करते और, उसीके परिणाममें, उठकर विभेदसे युद्ध करनेमें अधिक समर्थ होते है ? क्या यह नहीं हो सकता कि रातपर दिन निर्भर है, और रात न हो तो दिन दूभर हो जाय ? क्या यह नहीं है कि विभेद तब तक असत्य है, असम्भव है, जब तक अभेद उसमें व्याप्त न हो ? क्या—

पर, रात बीत रही है, और मेरी आँखोंमें नींद नहीं है । ओः, यह समस्त क्या है ? मैं क्या हूँ ? मैं कुछ नहीं जानता,—मैं कुछ नहीं जानूँगा । मैं सब हूँ । सबमें हूँ ।

तभी कहीं घण्टा बजा—ए-क । जैसे आँधरेमें गूँज गया, ए-ए-क । मैं उस गूँजको सुनता हुआ रह गया । गूँज धीमे धीमे विलीन हो गई, और सन्नाटा फिर वैसे ही सुन्न हो गया । मैंने कहा—‘ एक ! ’ मैंने दोहराया—‘ एक, एक, एक । ’ मैंने दोहराना जारी रक्खा और नींद कुछ मेरी ओर उतरने लगी । अब मैं सोऊँगा । मैं सोऊँगा । बाहर अनेकताके बीच एक बनकर स्थिर शान्तिसे क्यों न मैं सो जाऊँगा ? मैं चाहने लगा, मैं सोऊँ । पर तारे हँसते थे और हँसते थे, और मेरी आँखोंमें नींद धीमे धीमे उतरकर आ रही थी ।

ज़रूरी

दिनके साढ़े दस बजे होंगे । मैं मेजपर बैठा था तभी मुंशीजी आये । लाला महेश्वरनाथजीकी जो शहरके इधर-उधर और कई

तरफ फैली हुई जायदाद है, उस सबकी देख-भाल इन मुंशीजीपर है। मुंशीजी बड़े कर्म-व्यस्त और संक्षिप्त शब्दोंके आदमी हैं। विनयशील बहुत हैं, बहुत लिहाज रखते हैं। पर कर्तव्यके समय तत्पर हैं।

मुंशीजीने कहा—मुझे माफ कीजिएगा। ओः, मैंने हर्ज किया। पर हाँ,—वह,—यह तीसरा महीना है। आप चेक कब भिजवा दीजिएगा ? रायसाहब कहते थे—

बात यह है कि पिछले दो माहका किराया मैंने नहीं दिया। दिया क्या नहीं, दे नहीं पाया। मैंने मुंशीजीकी ओर देखा। मुझे यह अनुग्रह कष्टकर हुआ कि मुंशीजी अब भी अपनी विनम्रता और विनयशीलताको अपने काबूमें किये हुए हैं। वह धमकाकर भी तो कह सकते हैं कि लाइए साहब, किराया दीजिए। यह क्या अधिक अनुकूल न हो ?

यह सोचता हुआ मैं फिर अपने सामने मेजपर लिखे जाते हुए कागजोंको देखने लगा।

मुंशीजीने कहा—मेरे लिए क्या हुक्म है ?

पर मेरी समझमें न आया कि उनके लिए क्या हुक्म हो। अगर (मैंने सोचा) इनकी जगह खुद (रायसाहब) महेश्वरजी होते, तो उनसे कहता कि किरायेकी बात तो फिर पीछे देखिएगा, इस समय तो आइए सुनिए कि मैंने इस लेखमें क्या लिखा है। महेश्वरजीको साहित्यमें रस है और वह विचारवान् है,—विचारवानसे आशय यह नहीं कि किराया लेना उन्हें छोड़ देना चाहिए। अभिप्राय यह, कि वह अवश्य ऐसे व्यक्ति है कि किरायेकी-सी छोटी बातोंको पीछे रखकर

वह सैद्धान्तिक गहरी बातोंपर पहले विचार करें । लेकिन, इन मुंशीजीको मैं क्या कहूँ ? क्या मैंने देखा नहीं कि किरायेकी बातपर सदा यह मुंशीजी ही सामने हुए हैं, और रायसाहबसे जब जब साक्षात् होता है, तब इस प्रकारकी तुच्छता उनके आस पास भी नहीं देखनेमें आती और वह गम्भीर मानसिक और आध्यात्मिक चर्चा ही करते हैं ।

हुक्मकी प्रार्थना और प्रतीक्षा करते हुए मुंशीजीको सामने रहने देकर मैं कुछ और जरूरी बातें सोचने लगा । मैंने सोचा कि—

मैं जानता हूँ कि मुझे काम करना चाहिए और मैं काम करता हूँ । सात घण्टे हर एकको काम करना चाहिए । मैं साढ़े सात घण्टे करता हूँ । जो काम करता हूँ वह उपयोगी है ।—वह बहुत उपयोगी है । वह काम समाजका एक जरूरी और बड़ी जिम्मेदारीका काम है । क्या मैं स्वार्थ-बुद्धिसे काम करता हूँ ? नहीं, स्वार्थ-भावनासे नहीं करता । क्या मेरे कामकी बाजार-दर इतनी नहीं है कि मैं जरूरी हवा, जरूरी प्रकाश और जरूरी खुराक पाकर जरूरी कुनवा और जरूरी सामाजिकता और जरूरी डिमागियत निवाह सकूँ ? शायद नहीं । पर ऐसा क्यों नहीं है ? और ऐसा नहीं है, तो इसमें मेरा क्या अपराध है ?

अपने कामको मैंने व्यापारका रूप नहीं दिया है । आजका व्यापार शोषण है । मैं शोषक नहीं होना चाहता ।

इसी दुनियामें, पर दूसरी जगह, मेरे जैसे कामकी बहुत कीमत और कदर भी है । मेरे पास अगर मकान नहीं है और मकानमें

रहनेका एवज देनेके लिए काफी पैसा नहीं है, तो इसका दोष किस मूर्ति मुझमें है, यह मैं जानना चाहता हूँ ।

मैं जानना चाहता हूँ कि समाज जब कि मेरी तारीफ भी करता है, तो जीवन और जीवनके जरूरी उपादानोंसे मैं वञ्चित किस प्रकार रक्खा जा रहा हूँ ?

मैं जानना चाहता हूँ कि अगर मकानका किराया होना जरूरी है, तो यह भी जरूरी क्यों नहीं है कि वह रुपया मेरे पास प्रस्तुत रहे ? वह रुपया कहाँसे चलकर मेरे पास आवे, और वह क्यों नहीं आता है ? और, यदि वह नहीं आता है, तो क्यों यह मेरे लिए चिन्ताका विषय बना दिया जाना चाहिए ? और किस नैतिक आधारपर यह मुंशीजी सरकारसे फरियाद कर सकते हैं कि मैं अभियोगी ठहराया जाऊँ और सरकारी जज बिना मनोवेदनाके कैसे मुझे अभियुक्त ठहराकर मेरे खिलाफ डिग्री दे सकता है ? और समाज भी क्यों मुझे दोषी समझनेको उद्यत है ?

क्या इन रुपयोंके बिना महेश्वरजीका कोई काम अटका है ? इन किरायेके रुपयोंपर उनका हक बनने और कायम रहनेमें कैसे आया ?

रुपया उपयोगितामें जाना चाहिए कि विलासितामें ?

वह समाज और सरकार क्या है जो रुपयेके बहावको विलाससे मोड़कर उपयोगकी ओर नहीं ढालती ?

क्या कभी मैंने महेश्वरजीसे कहा कि वह मुझे मात्र रहने दें ? क्यों वह मुझसे किराया लेते हैं ?—न लें ।

नहीं कहा तो क्यों नहीं कहा ? क्या यह कहना जरूरी नहीं है ?....लेकिन, क्या यह कहना ठीक है ?

मैं अगर इस चीजसे इनकार कर दूँ और फल भुगतनेको प्रस्तुत हो जाऊँ, तो इसमें क्या अनीति है ? क्या यह अयुक्त हो ?....

इतनेमें मुंशीजीने कहा कि उनको और भी काम हैं । मैं जल्दी फरमा दूँ कि चेक ठीक किस रोज भेज दिया जायगा । ठीक तारीख मैं फरमा दूँ जिससे कि—

(मैंने सोचा) यह मुंशीजी इतने जोरके साथ अपनी विनय आखिर किस भाँति और किस वास्ते थामे हुए है ? प्रतीत होता है कि अब उनकी विनयकी वाणीमें कुछ कुछ उनके सरकारानुमोदित अधिकार-गर्वकी सव्यङ्ग मिठास भी आ मिली है । मैंने कहा न, कि मुंशीजी बहुत भले आदमी है । यह अच्छी तरह जानते हुए भी कि पैसेके वकील और सरकारके सवेतन कर्मचारियोंके बलसे वह मेरा लोटा-थाली कुर्क करा सकते हैं, यह जानते हुए भी (—या, ही) वह विनय-लज्जित है । मैं जानता हूँ कि कर्तव्यके समय वह कटिबद्ध भी दीखेंगे, फिर भी मेरा उनमें इतना विश्वास है कि मैं कह सकता हूँ कि उस समय भी अपनी लज्जाको और अपने तकल्लुफको वह छोड़ेंगे नहीं । इसीका नाम वजेदारी है ।

मैंने कहा—मुंशी साहब, आपको तकलीफ हुई । लेकिन अभी तो मेरे पास कुछ नहीं है ।

—तो कब तक भिजवा दीजिएगा ?

मैंने कहा—आप ही बताइए कि ठीक ठीक मैं क्या कह सकता हूँ ।

बोले—तो ?

‘तो’का मेरे पास क्या जवाब था । मैंने चाहा कि हँसूँ ।

उन्होंने कहा कि रायसाहबने फरमाया था कि मैं इतना दूँ कि बहुत दिन हो गये हैं। न हो तो,—और मकान देख लें।

मैंने हँसकर कहा—और मकान ? लेकिन किराया तो वहाँ भी देना होगा न ? मुश्किल तो वही है।

मुंशीजी सहानुभूतिके साथ मेरी ओर देखते रह गये।

मैंने उन्हें देखकर कहा—खैर, जल्दी ही मैं किराया भिजवा दूँगा।

—जी हाँ, जल्दी भिजवा दीजिएगा। और आयन्दासे तीस तारीख तक भिजवा दे तो अच्छा। रायसाहबने कहा था—

मैंने कहा—अच्छा—

मुंशीजी फिर आदाब बजा लाकर चले गये। उनके चले जानेपर मैंने पुनः अपने लेखकी ओर ध्यान किया जो लाजिमी तौरपर जबर्दस्त लेख होनेवाला था।



उपयोगिता

शायद चौथी क्लासमें आकर अँग्रेजीकी पहली किताबके पहले सबकमें हमने पढ़ा—‘परमात्मा दयालु है । उसने हमारे पीनेके लिए पानी बनाया, जीनेके लिए हवा, खानेके लिए फल-मेवा, आदि आदि ।’

पढ़कर वह सीधी तरह हमें पचा नहीं । हम भोले नहीं थे । बच्चे तो थे, पर बुद्धिमान् किसीसे कम नहीं थे । पूछा—क्यों मास्टरजी, सब कुछ ईश्वरने बनाया है ?

मास्टरजी बोले—नहीं तो क्या ?

जहाँ हम पढ़ते थे वहाँ हवा आधुनिक थी । बालकोंमें स्वतंत्र बुद्धि जागे, यह लक्ष्य था । हमने कहा—तो उस ईश्वरको किसने बनाया है ? और उस ईश्वरने कहाँ बैठकर किस तारीखको यह सब कुछ बनाया है ?

मास्टरजीने कहा—पढ़ो पढ़ो । वाहियत बातें मत करो ।

जी हाँ, वाहियात बात ! पहलीमें नहीं, दूसरीमें नहीं, तीसरीमें नहीं, चौथी क्लासमें हम थे । हमें धोखा देना आसान न था । और कुछ जाने न जानें, इतना तो जानते ही थे कि ईश्वर वहम है । यह भी जानते थे कि ईश्वरने सम्यताका बहुत नुकसान किया है । वह पाखंड है । उससे छुट्टी मिलनी चाहिए । सो, उस सबकपर हमने मास्टरजीको चुप करके ही छोड़ा । मास्टरजीकी एक भी बात हमारे

आँखोंसे और स्थूल बुद्धिसे यह बात इतनी सहज सत्य माळूम होती है कि जैसे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता । अगर कुछ प्रत्यक्ष सत्य है तो यह ही है ।

पर आज हम जानते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं है । जो यथार्थ है उसे हम तभी पा सकते हैं जब अपनेको विश्वके केंद्र माननेसे हम ऊँचे उठे ।—अपनेको मानकर भी किसी भौति अपनेको न मानना आरंभ करें ।

सृष्टि हमारे निमित्त है, यह धारणा अप्राकृतिक नहीं है । पर उस धारणापर अटक कर कल्पनाहीन प्राणी ही रह सकता है । मानव अन्य प्राणियोंकी भौति कल्पनागून्य प्राणी नहीं है ।—मानवको तो यह जानना ही होगा कि सृष्टिका हेतु हममें निहित नहीं है । हम स्वयं सृष्टिका भाग हैं । हम नहीं थे, पर सृष्टि थी । हम नहीं रहेंगे, पर सृष्टि रहेगी ।

सृष्टिके साथ और सृष्टिके पदार्थोंके साथ हमारा सच्चा संबंध क्या है ? क्या हो ?

मेरी प्रतीति है कि प्रयोजन और ' युटिलिटी ' शब्दसे जिस संबंधका बोध होता है वह सच्चा नहीं है । वह काम-चलाऊ भर है । वह परिमित है, कृत्रिम है और बंधनकारक है । उससे कोई किसीको पा नहीं सकता ।

सच्चा संबंध प्रेमका, भ्रातृत्वका और आनन्दका है । इसी संबंधमें पूर्णता है, उपलब्धि है और आह्लाद है; न यहाँ किसीको किसीकी अपेक्षा है, न उपेक्षा है । यह प्रसन्न, उदात्त, समभावका संबंध है ।

पानी हमारे पीनेके लिए बना है, हवा जीनेके लिए,—आदि

कथन शिथिल दृष्टिकोणका है। अतः, यह कथन पक्ष-सत्य ही है। ऊँचे उठकर उसकी सचाई चुक जाती है और वह असत्य हो सकता है। हमारे लौकिक ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र जबतक इस 'युटिलिटी' (=उपयोगिता) की धारणापर खड़े हैं तबतक मानना चाहिए कि वे ढहकर गिर भी सकते हैं। उनकी नींव गहरी नहीं गई। वे शास्त्र अभी सामयिक हैं और शाश्वतका उनको आधार नहीं है।

पानी हमारे पीनेके लिए बना है, यह कहना पानीकी अपनी सचाईको बहुत परिमित कर देना है। इसका अर्थ यह है कि जबतक मुझे प्यास न हो तबतक पानी निरर्थक है। अपनी प्यासके द्वारा ही यदि हम पानीको ग्रहण करते हैं तो हम पानीको नहीं पाते, सिर्फ अपनी प्यास बुझाते हैं।

पानीकी यथार्थता तक पहुँचनेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्यास बुझानेकी लालसा और गुरजकी आँखोंसे पानीको न देखें, उससे कुछ ऊँचा नाता पानीके साथ स्थापित करें।

जिसने पानीके संबंधमें किसी नवीन सचाईका आविष्कार किया, जिसने उस पानीको अधिक उपलब्ध किया और कराया, वह व्यक्ति प्यासा न रहा होगा। पानीके साथ उसका संबंध अधिक आत्मीय और स्नेह-स्निग्ध रहा होगा। वह पानीका ठेकेदार न होगा। वह उसका साधक और शोधक रहा होगा।

जिस व्यक्तिने जाना और बताया कि पानी H_2O (= दो भाग हाइड्रोजन, एक भाग आक्सीजन) है उसने हमसे ज्यादा पानीकी उस सचाईको प्राप्त किया है। यह कह कर और यहीं

रुक कर कि पानी हमारे पीनेके लिए बना है, हम उसकी भीतरी सचाईको (उसकी आत्माको) पानेसे अपनेको वंचित ही करते है ।

स्पष्ट है कि पानीको H_2O रूपमें देखने और दिखानेवाला व्यक्ति पीनेके वक्त उस पानीको पीता भी होगा । पर कहनेका मतलब यह है कि उस पदार्थके साथ उस आविष्कर्त्ताका सम्बन्ध मात्र प्रयोजनका नहीं था, कुछ ऊँचे स्तरपर था ।

प्रयोजनका माप हमारा अपना है । हम सीमित है, बहुत सीमित हैं, परंतु विश्व वैसा और उतना सीमित नहीं है । इसलिए, विश्वको अपने प्रयोजनोंके मापसे मापना आस्मानको अपने हाथकी बिलाँदसे नापने जैसा है ।

पर सच यह है कि हम करें भी क्या ? नापनेका माप हमारे पास अपनी बिलाँद ही है । तिसपर नापनेकी तबीयतसे भी हमारा छुटकारा नहीं है । नाप-जोख किये बिना हमारे मनको चैन नहीं । नाप नाप कर ही हम बढ़ेंगे । एकाएक मापहीन अकूल अनंतमें पहुँच भी जायँ तो वहाँ टिकेंगे कैसे ?

बेशक यह ठीक है । नाप नाप कर बढ़ना ही एक उपाय है । हमारे पास लोटा है तो लोटे-भर पानी कुँएँसे खींच ले और अपना काम चलावें । ध्यान तो बस इतना रखना है कि न आस्मान बिलाँद जितना है, न कुँएँका पानी लोटा-भर है । —बिलाँदमे आस्मानको न पकड़ें, न लोटेमें कुँएँको समेटें !

प्रयोजन होना ग़लत नहीं है । दुनियामें प्रयोजन नहीं रखेंगे तो शायद हमें रोटी मिलनेकी नौबत न आयगी । पर प्रयोजनके

हाथो सचाई हाथ आनेवाली नहीं है, यह बात पक्के तौरपर जान लेनी चाहिए ।

जो कुछ है उसकी गर्दनपर अपने प्रयोजनका जूआ जा चढ़ानेसे हमारी उन्नतिकी गाड़ी नहीं खिंचेगी । जीवन ऐसे समृद्ध न होगा । साहित्यको, कलाको, धर्मको, ईश्वरको,—सब कुछको प्रयोजनमें जाननेकी चेष्टा निष्फल है । यह नहीं कि वे निष्प्रयोजन हैं पर आशय यह कि उन सत्त्वोंकी सचाई प्रयोजनातीत है ।

लोक-कर्ममें इस तथ्यको ओझल करके चलनेसे हम ख़तरेमें पड़ सकते हैं । पर मनुष्यका धन्य भाग्य यह है कि उसकी मूर्खताकी क्षमता भी परिमित है ।

हमारे समाजमें साठ वर्षसे ऊपरके वृद्धोंकी उपयोगिता कितनी है ? अगर वह तौलमे उतनी मूल्यवान् नहीं है कि जितना उनके पालनमे व्यय हो जाता हो, तो क्या यह निर्णय किया जा सकता है कि उन सबको एक ही दिन आरामके साथ समाप्त करके स्वर्ग रवाना कर दिया जाय ? समाज-व्यवस्थाका हिसाब-किताब शायद दिखावे कि इस भौति इंतज़ाममें सुविधा और सफ़ाई होगी पर यह नहीं किया जा सका और न किया जा सकता है । यदि अब तक कहीं यह नहीं किया जा सका तो निष्कर्ष यह है कि उपयोगिता-शास्त्र फिर अपनी उपयोगितामें किसी महत्त्वका प्रार्थी है ।

एक बार एक आमिष-भोजनके प्रचारकने निरुत्तर कर देनेवाली बात सुनाई । उन्होने कहा कि अगर बकरे खाए न जायँ तो बताइए उनका क्या किया जाय ? कोई उपयोग तो उनका है नहीं । तिसपर वे इतने बहुतायतसे पैदा होते और इतने बहुतायतसे बढ़ते हैं कि

अगर उन्हें बढ़ने दिया जाय तो वे आदमीकी जिन्दगीको असंभव बना दे । फिर बढ़कर या तो वे भूखे मरे, जो कि निर्दयता होगी, नहीं तो वे दुनियाकी खाद्य-सामग्रीको खुद खा-खाकर पूरा कर देंगे और फूलते जायेंगे । ऐसे दुनियाका काम कैसे चल सकता है ? इसलिए, मांस खाना लाजिम है ।

यह लाजिम होनेकी बात वह जानें । लेकिन, मानव-प्राणियोंके प्रति दयार्द्र होकर वकरोको खा जाना होगा, यह बात मेरी समझमें नहीं आई । पर उनकी दलीलका उत्तर क्या होगा ? उत्तर न भी बने, पर यह निश्चित है कि वह दलील सही नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम अशुद्ध है । मानव-तर्क अपूर्ण है और मैं कभी नहीं समझता कि उस तर्कके तर्कोंके आधारपर आमिष अथवा निरामिष भोजनका प्रचार-प्रतिपादन हो सकता है ।

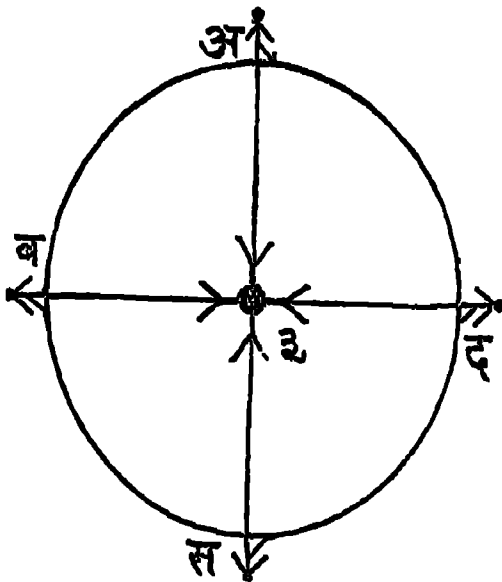
‘अहं’ को केंद्र और औचित्य-प्रदाता मानकर चलनेमें बड़ी भूल यह है कि हम बिसार देते हैं कि दूसरेमें भी किसी प्रकारका अपना ‘अहं’ हो सकता है । हम अपनी इच्छाओंका दूसरेपर आरोप करते हैं और जब इसमें अकृतार्थ होते हैं तो भीकते-भल्लाते हैं । असलमें यह हमारा एक तरहका बचपन ही है । हमारा मन रखनेके लिए तमाम सृष्टिकी रचना नहीं हुई है और हम अपना मन सब जगह अटकाते हैं ।—ऐसे दुख न उपजे तो क्या हो ?

छुटपनकी बात है । तब हमने पाठशालामें सीखा ही सीखा था कि धरती नारंगीके माफ़िक गोल है । सोचा करते थे कि इस तरह तो अमरीका हमारे पैरोंके नीचे है और हमको बड़ा अचरज होता था कि अमरीकाके लोग उल्टे कैसे चलते होंगे ? वे गिर क्यों नहीं

उपयोगिता

पड़ते ? क्योंकि वे धरतीपर पैरोके बल खड़े थोड़े ही हो सकते हैं, वे तो मानों धरतीसे नीचकी ओर अधर लटके हुए हैं । उस समय हम अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानते थे कि हम भारत-भूमिमें पैदा हुए, अमरीकामें पैदा नहीं हुए, नहीं तो उल्टे लटके रहना पड़ता !

आज भी जाने-अनजाने हमसे बहुतोंका वही हाल है । जिन धारणाओंको पकड़ कर हम खड़े हैं, हमें जान पड़ता है कि सच्ची सचाई वहीं है, शेष सबके हाथों बस झूठ ही झूठ आकर रह गया है । पर जैसे कि ऊपर उदाहरणमें ऊँच-नीचकी हमारी भ्रान्त कल्पना ही हमारी परेशानीका कारण थी वैसे ही अन्य हमारी अहंकृत कल्पनाएँ हमारे वैर-विरोधका कारण होती है ।



ऊपरके चित्रमें ३ को पृथ्वीका केंद्र मानिए । अ, ब, स और द उस पृथिवीपर चार अलग बिन्दुओंपर खड़े हुए चार व्यक्ति हैं । क्या वे अपनी अपनी जगहपर किसी तरह भी ऊँचे-नीचे या कम-अधिक हैं ? असलमें उनका अपनी ऊँच-नीचकी धारणाके हिसाबसे

दूसरेको नापना बिलकुल ग़लत होगा । जिस धरतीपर वे खड़े हैं उसका केंद्र (अंतरात्मा) ३ है । उनकी सब प्रतीतियाँ, सब गतियाँ अन्ततः अपनी सिद्धिके लिए उस ३ बिन्दुकी अपेक्षा रखती हैं । वह ३ बिन्दु सबसे समान दूरीपर है । वह सबको एक-सा प्राप्य अथवा अप्राप्य है । सब प्रकारका भेद उस केंद्र-बिन्दु ३ में जाकर लय हो जाता है । वहाँसे आगे कोई दिशा नहीं जाती । सब दिशाएँ वहाँसे चलती है और वहीं समाप्त होती है । अ ३ स अपने आपमें कोई रेखा नहीं है । कोई दिशा या कोई ऐसी रेखा नहीं हो सकती जिसके एक सिरेपर वह (जीवनका) केंद्र-बिन्दु विराजमान् न हो । इसलिए अ ३ स चाहे एक सीधी रेखा दीख पड़ती हो, पर वह भ्रांति है;—वैसा है नहीं । वृत्तकी परिधिपरके सब बिन्दु माध्याकर्षणद्वारा ३ के प्रति आकृष्ट हैं । उस आकर्षणके ऐक्यके कारण ही पृथ्वी थमी हुई है । ३ सबका स्रोत-बिन्दु है, समस्तका अन्तरात्मा है । वहाँ जाकर किसीकी भिन्न सत्ता नहीं रहती । इस प्रकार अ और स इन दो बिन्दुओंसे प्रतिकूल दिशाओंमें चलनेवाली दोनों रेखाएँ ३ में ही गिरती हैं । और वे दोनों असलमें प्रतिकूल भी नहीं है, दोनों अनुकूल हैं, क्योंकि दोनों अपने केंद्रकी ओर चल रही है ।

चित्रसे प्रकट है कि किस प्रकार अ, व, स और द अपने अपने विशिष्ट बिन्दुओं (अहं) को केंद्र मान लें तो उन व्यक्तियोंका जीवन भ्रान्त ही हो जायगा और उस जीवनको कोई दिशा न प्राप्त होगी ।

हमारे लौकिक शास्त्र और लौकिक कर्म बहुधा इसी अहं-चक्रमें पड़कर विफल हो जाते हैं । अपने घरके घड़ेके पानीमे जो हम

आस्मानका अक्स देखते हैं उसीको आस्मान और उतनेहीको आस्मानका परिणाम मान लेते हैं। अगर हम यह भूल न करें तो उस आस्मानके प्रतिविम्बसे बहुत लाभ उठा सकते हैं। पर अक्सर इतनी समझ हमें नहीं होती और हम अपना अलाम अधिक कर डालते हैं।

यह भी विचारना चाहिए कि हमारे घरके घड़ेमें प्रतिबिम्बित होना आस्मानकी सार्थकता नहीं है। उसकी सत्ताका हेतु यह नहीं है। अपनेमे विम्ब धारण करना तो उस घड़ेका पानीका गुण-विशेष है। उतना ही आकाशका धर्म और अर्थ मान बैठना उस महारहस्यमय आकाशसे प्राप्त हो सकनेवाले अगाध आनन्दसे अपनेको वंचित कर लेना है। दूसरे शब्दोंमें, वह मानवकी महान् मूर्खता है।

पर इस अनंत शून्याकाशको मैं बाँधकर रखूँ, तो कहाँ ? देखूँ, तो कैसे ?—ओखें वहाँ ठहरती ही नहीं। वह अति गूढ़ है, अति शून्य है। अपने घड़ेके भीतरके उस प्रतिविम्बमें मैं बिना कंपनके झाँक तो सकता हूँ। यह नील धवल महाशून्याकाश, नहीं तो, मुझसे देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता। कैसे मानूँ कि मैं बहुत अकेला हूँ, बहुत छोटा हूँ। वह असीम है, वारापार उसका कहाँ है ? और मैं उसे देखूँ क्यों नहीं ? इसलिए, मैं उसे अपने घटके शांत पानीमें ही उतार कर देखूँगा।

मैं ज़रूर वही करूँ। वही एक गति है और वही उपयोगिताकी उपयोगिता है।

इससे आगे उपयोगिताको दौड़ाना अपनी सवारीके टट्टूको

हवामें भगाना है । ऐसे, टट्टू मुँहके बल गिरेगा और सवारकी भी खैर नहीं है ।

दिल्ली नगरमें बच्चोंके लिए दूधकी ज़रूरत है और सावनमें ये बादल फिर भी पानी ही बरसाते हैं ! आकाश सूना खड़ा है, क्यों नहीं गुच्छेके गुच्छे अंगूर टपका देता है ? हमें ज़रूरत अंगूरोंकी है और आकाश निरुपयोगी भावसे बेहयाईके साथ कोराका कोरा खड़ा है ! ये बादल और आस्मान दोनों निकम्मे हैं । उनसे कोई वास्ता मत रखो । जो उनसे सरोकार रखते हैं उनका बायकाट कर दो । ये तारे, रातमें चमकनेवाली यह दूधिया आकाश-गंगा, वह वर्षीली चोटियाँ, वह मचलती हवा, वह प्रातः सायं क्षितिजसे लगकर बिखर रहनेवाले रंग-बिरंगे रंग,—ये सब वृथा हैं । हमको पैसेकी सख्त ज़रूरत है, रोटीकी बेहद भूख है । और इन सब चीज़ोंसे न रोटी मिलती है, न कौड़ी हाथ आती है । वे अनुपयोगी हैं । मत देखो उनकी तरफ । इंकार कर दो उन्हें । उनसे समाजका क्या लाभ ? और हम हिसाब-बहीमें लाभ चाहते हैं, लाभ !

तो ऐसी पुकार, कहना होगा कि, निरी वौखलाहट है । वह उपयोगिताकी भयंकर अनुपयोगिता है ।



व्यवसायका सत्य

एक रोज एक भेदने मुझे पकड़ लिया। बात यों हुई। मैं एक मित्रके साथ बाज़ार गया था। मित्रने बाज़ारमें कोई डेढ़ सौ रुपये खर्च किये। सो तो हुआ, लेकिन जब घर आकर उन्होंने अपना हिसाब लिखा और खर्च-खाते सिर्फ पाँच रुपये ही लिखे गये, तब मैंने कहा, 'यह क्या?' बोले, 'बाकी रुपया खर्च थोड़े हुआ है। वह तो इन्वेस्टमेण्ट है।'

इन्वेस्टमेण्ट। यानी खर्च होकर भी वह खर्च नहीं है। कुछ और है। खर्च और इस दूसरी वस्तुके अन्तरके सम्बन्धमें कुछ तो अर्थकी झलक साधारणतः मेरे मनमें रहा करती है; पर उस वक्त जैसे एक प्रश्न मुझे देखता हुआ सामने खड़ा हो गया। जान पड़ा कि समझना चाहिए कि खर्च तो क्या, और 'इन्वेस्टमेण्ट' क्या? क्या विशेषता होनेसे खर्च खर्च न रहकर यह 'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है? उसी भेदको यहाँ समझकर देखना है और उसे तनिक जीवनकी परिभाषामें भी फैलाकर देखेंगे।

रुपया कभी जमकर बैठनेके लिए नहीं है। वह प्रवाही है। अगर वह चले नहीं तो निकम्मा है। अपने इस निरन्तर भ्रमणमें वह कहीं-कहींसे चलता हुआ हमारे पास आता है। हमारे पाससे कहीं और चला जायगा। जीवन प्रगतिशील है, और रुपयेका गुण भी गतिशीलता है। रुपयेके इस प्रवाही गुणके कारण यह तो असम्भव है कि हम उसे रोक रखें। पहले कुछ लोग धनको ज़मीनमें गाड़ देते थे। गड़ा

हुआ धन वैसा ही मुर्दा है जैसे गड़ा हुआ आदमी। वह बीज नहीं है कि धरतीमें गड़कर उगे। गाड़नेसे रुपयेकी अब बिगड़ जाती है, फिर भी, उसमें प्रत्युत्पादनकी शक्ति है बीजसे कहीं अधिक,— यद्यपि वह भिन्न प्रकारकी उत्पादन शक्ति है। उस शक्तिको कुण्ठित करनेसे आदमी समाजका अलाभ करता है। खैर, रुपयेको गाड़कर निकम्मा बना देने या उसे कैदखानेमें बन्दी करके डाल देनेकी प्रवृत्ति अब कम है। रुपया वह है कि जमा रहने-भरसे सूद लाता है। सूद वह इसलिए लाता है कि कुछ और लोग उस रुपयेको गति-शील रखते हैं,—वे उससे मुनाफा उठाते हैं। उसी गति-शीलताके मुनाफेका कुछ हिस्सा सूद कहलाता है।

रुपया गतिशील होनेसे ही जीवनोपयोगी है। वह हस्तान्तरित होता रहता है। वह हाथमें आता है तो हाथसे निकलकर जायगा भी। अगर हमारे जीवनको बढ़ना है तो उस रुपयेको भी व्यय होते रहना है।

लेकिन उस व्ययमें हमने ऊपर देखा कि कुछ तो मात्र 'व्यय' है, कुछ आगे बढ़कर 'पूँजी' हो जाता है,—'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है। समझना होगा कि सो कैसे हो जाता है ?

कल्पना कीजिए कि दिवाली आनेवाली है और अपनी अपनी माँसे राम और श्यामको एक-एक रुपया मिला है। राम अपने रुपयेके कुछ खिलौने, कुछ तसवीरें और कुछ फुलझड़ी वगैरह ले आया है। श्याम अपने बारह आनेकी तो ऐसी ही चीजें लेता है पर चार आनेके वह रङ्गीन पतले कागज लेता है। उसने शहरमें कन्दील बिकते देखे हैं। उसके पिताने घरमें पिछले साल एक कन्दील

बनाया भी था। श्यामने सोचा है कि वह भी कन्दील बनायेगा और बनाकर उन्हे बाजारमें बेचने जायगा। सोचता है कि देखे, क्या होता है।

रामने कहा—श्याम, यह कागज तुमने क्या लिये है ? इसके बदलेमे वह मेम-साहबवाला खिलौना ले लो न, कैसा अच्छा लगता है।

श्यामने कहा—नहीं, मैं कागज ही लूँगा।

रामने अपने हाथके मेम-साहबवाले खिलौनेको गौरवपूर्ण भावसे देखा और तनिक सदय भावसे श्यामको देखकर कहा—अच्छा।

रामने श्यामकी इस कार्रवाईको नासमझी ही समझा है। रामके चेहरेपर प्रसन्नता है और उसने मेम-साहबवाले अपने खिलौनेको विशिष्ट रूपसे सामने कर लिया है।

रामके घरमे सब लोग खिलौनोंसे खुश हुए है। उसके बाद वे खिलौने टूट-फूटके लिए लापरवाहीसे छोड़ दिये गये है। उसी भाँति फुलझड़ियोंमेंसे जलते वक्त भाँति-भाँतिकी रंगीन चिनगारियाँ छूटी है। जलकर फिर फुलझड़ियाँ समाप्त हो गई है।

उधर यही सब श्यामके घर भी हुआ है। पर इसके बाद श्याम अपने रंगीन कागजोंको लेकर मेहनतके साथ उसके कन्दील बनानेमें लग गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि श्यामके उन चार आनोंका खर्च खर्च नहीं है, वह पूँजी (= investment) है।

अब कल्पना कीजिए कि श्यामकी बनाई हुई कन्दीलें चार आनेसे ज्यादाकी नहीं बिकीं। कुछ कागज खराब गये, कुछ बनानेमें

खूबसूरती नहीं आई। हो सकता था कि वे चार आनेसे भी कमकी बिकतीं। अच्छी साफ बनतीं तो मुमकिन था, ज्यादाहकी भी बिक सकती थी। फिर भी, कल्पना यही की जाय कि वह चार ही आनेकी बिकीं और श्याम उन चार आनोंके फिर खील-बताशे लेकर घर पहुँच गया।

. इस उदाहरणमें हम देख सकते हैं कि रामको दिये गये एक रुपयेने उतना चक्कर नहीं काटा। श्यामके रुपयेने ज़रा ज़्यादाह चक्कर काटा। यद्यपि अन्तमें श्यामका रुपया भी, सोलह आनेका ही रहा और इस बीच श्यामने कुछ मेहनत भी उठाई। रामका रुपया भी बिना मेहनतके सोलह आनेका रहा। फिर भी, दोनोंके सोलह आनेके रुपयेकी उपयोगितामें अन्तर है। वह अन्तर श्यामके पक्षमें है और वह अन्तर यह है कि जब रामने उसके सोलहों आने खर्च किये थे, तब श्यामने उसमेंके चार आने खर्च नहीं किये थे, बल्कि 'लगाये' थे। उस 'लगाने' का मतलब यही कि उसको लेकर श्यामने कुछ मेहनत भी की थी और रुपयेका मूल्य अपनी मेहनत जोड़कर उसने कुछ बढ़ा दिया था। हम कह सकते हैं कि श्यामने रामसे अधिक बुद्धिमानीका काम किया और श्याम रामसे होनहार है। मान लो, कि उसकी कन्दीलें धेलेकी भी नहीं बिक सकीं; फिर भी, यही कहना होगा कि श्याम रामसे समझदार है। उसने स्वयं घाटेमें रहकर भी रुपयेका अधिक मूल्य उठाया।

प्रत्येक व्यय एक प्रकारकी प्राप्ति है। हम रुपये देते हैं तो कुछ और चीज़ पाते हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि हम दे और लें नहीं। और कुछ नहीं, तो यह गर्व और सम्मान ही हम लेते हैं कि हम

कुछ ले नहीं रहे है। बिना हमें कुछ प्रति-फल दिये जब रुपया चला जाता है, तब हमें बहुत कष्ट होता है। रुपया खो गया, इसके यही माने है कि उसके जानेका प्रतिदान हमने नहीं पाया। जब रुपया गिर जाता है, चोरी चला जाता है, डूब जाता है, तब हमको बड़ी चोट लगती है। एक पैसा भी, बिना प्रतिदानमें हमें कुछ दिये, हमारी जेबसे यदि चला जाय तो उससे हमें दुःख होता है। यो, चाहे हजारों हम उड़ा दें।—उस उड़ा देनेमें दरअसल हम उस उड़ानेका आनन्द तो पा रहे होते है।

इस भाँति प्रतिफलके बिना कोई व्यय असम्भव है। किन्तु, प्रतिफलके रूपमें और उसके अनुपातमें तर-तमता होती है। और उसी तर-तमताके आधारपर कुछ व्यय अपव्यय और कुछ और व्यय 'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है।

ऊपर श्यामका और रामका उदाहरण दिया गया। श्यामने अपने रुपयेमेंसे चार आनेका प्रतिफल जान-बूझकर अपनेसे दूर बना लिया। उस प्रतिफल और अपने चार आनेके व्ययके बीचमें उसने कन्दील बनाने और उसे बाजारमें जाकर बेचने आदि श्रमके लिए जगह बना छोड़ी। इसीलिए, वह चार आनेका 'इन्वेस्टमेण्ट' कहा गया और श्यामको बुद्धिमान् समझा गया।

परिणाम निकला, प्रत्येक खर्च वास्तवमें पूँजी है यदि उस व्ययके प्रतिफलमें कुछ फासला हो और उस फासलेके बीचमें मनुष्यका श्रम हो।—इसीको दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि मनुष्य और उसके व्ययके प्रतिफलके बीचमें आकाङ्क्षाकी सङ्कीर्णता न हो। अपनी तुरन्तकी अभिलाषाको तृप्त करनेके लिए जो व्यय है, वह उतना ही

कोरा व्यय अथवा अपव्यय है और उतना ही कम अर्जनीय, इन्वेस्टमेंट अथवा सद्व्यय है। अर्थात् प्रतिफलकी दृष्टिसे अपने व्ययमें जितनी दूरका हमारा नाता है, उतना ही उस व्ययको हम अर्जनीय या इन्वेस्टमेंटका रूप देते हैं।

इस बातसे अगले परिणामपर पहुँचे, इससे पहले यह जरूरी है कि इसको ही खुलासा करके समझें।

हमारे पास रुपया है, जो कि हमारे पास रहनेके लिए नहीं है। वह अपने चक्करपर है। हमारे पास वह इसलिए है कि हमारी जरूरतोंको मिटानेमें साधन बननेके बाद हममें अतिरिक्त स्फूर्ति डालने और हमें श्रममें प्रवृत्त करनेमें सहयोगी बने। हम जीये और कार्य करें। इस जीवन-कार्यकी प्रक्रियामें ही रुपयेकी गतिशीलता घटित और सार्थक होती है।

स्पष्ट है कि रुपया असल अर्थमें किसीका नहीं हो सकता। वह चाँदीका है। वह प्रतीक है। उसका बँधा मान है। वह एक निश्चित सामर्थ्यका द्योतक है। सामर्थ्य, याने इनर्जी (energy)। जब तक वह रुपया इनर्जीका उत्पादक है, तभी तक वह ठीक है। जब इनर्जी उससे नहीं ली जाती, उसे अपने आपमें माल और दौलत समझकर बटोरा और जमा किया जाता है, तब वह रोगका कारण बनता है।

जिसको इन्वेस्टमेंट कहा जाता है, वह उस रुपयेके इनर्जी रूपको कायम रखनेकी ही पद्धति है। उसका व्यय होते रहना गति-चक्रको बढ़ाने और तीव्र करनेमें सहायक होता है।—हाँ, हम देखते हैं कि वह ठहरता भी है। वास्तवमें कोई गति अवस्थानके

बिना सम्भव नहीं होती। चेतन व्यक्त होनेके लिए अचेतनका आश्रय लेता है। इनर्जी अपने अस्तित्वके लिए 'डेड मैटर' की प्रार्थिनी है। पर जैसे नींद जागरणके लिए आवश्यक है,—नींद अपने आपमें तो प्रमाद ही है, जागरणकी सहायक होकर ही वह स्वास्थ्यप्रद और जखूरी बनती है,—वैसे ही वह व्यय है जो किसी कदर पैसेके चक्रको धीमा करता है। किन्तु, प्रत्येक व्यय यदि अन्तमें जाकर इन्वेस्टमेण्ट नहीं है, तो वह हेय है। हम भोजन स्वास्थ्यके लिए करते हैं और सेवाके कार्यके लिए हमें स्वास्थ्य चाहिए। इस दृष्टिसे भोजनपर किया गया खर्च इन्वेस्टमेण्ट बनता है। अन्यथा, रसनालोलुपताकी वजहसे भोजनपर किया गया अनाप-शनाप खर्च केवल व्यय रह जाता है और वह मूर्खता है। वह असलमे एक रोग है और भौति-भौतिके सामाजिक रोगोंको जनमाता है।

जहाँ जहाँ व्ययमे उपयोग-बुद्धि और विवेक-बुद्धि नहीं है, जहाँ जहाँ उसमे अधिकाधिक ममत्व-बुद्धि और विषय-बुद्धि है, वहाँ ही वहाँ मानो रुपयेके गलेको घोंटा जाता और उसके प्रवाहको अवरुद्ध किया जाता है। सच्चा व्यवसायी वह है जो कि रुपयेको काममें लगाता है और अपने श्रमका उसमें योग-दान देकर उत्पादन बढ़ाता है। सच्चा आदमी वह है जो कर्म करता है और कर्मके फलस्वरूप और कर्म करता है। हम देखते आ रहे हैं कि वह व्यक्ति रुपयेका मूल्य उठाना नहीं जानता जो उसे, बस, खर्च करता है। रुपयेकी कीमत तो वह जानता है जो उसे खर्च करनेके लिए ही खर्च नहीं करता यानी अपने ऊपर नहीं खर्च करता है, प्रत्युत मेहनत

करनेके लिए खर्च करता है। रुपयेके सहारे जितना अधिक श्रम-उत्पादन किया जाय, उतनी ही उस रुपयेकी सार्थकता है।

हमने ऊपर देखा कि पैसेका पूँजी बन जाना और खर्चका इन्वेस्टमेण्ट हो जाना उसके प्रतिफलसे अपना यथासाध्य अन्तर रखनेका नाम है। स्पष्ट है कि वैसे फासलेके लिए किसी कदर बेग़रज़ीकी ज़रूरत है। मनुष्यकी ग़रज़ उसे दूरदर्शी नहीं होने देती। ग़रज़मन्द पैसेके मामलेमें सच्चा बुद्धिमान् नहीं हो सकता। हम यह भी देख सकेंगे कि मनुष्य और उसकी ज़रूरतोंके बीचमें जितना निस्पृहताका सम्बन्ध है, उतना ही वह अपने इन्वेस्टमेण्टके बारेमें गहरा हो सकता है। जो आकांक्षा-त्रस्त है, विषय-प्रवृत्त है, वह रुपयेके चक्रको तङ्ग और सङ्कीर्ण करता है। वह समाजकी सम्पत्तिका हास करता है। वह इनर्जीको रोकता है और, इस तरह, विस्फोटके साधन प्रस्तुत करता है। प्रवाही वस्तु प्रवाहमें स्वच्छ रहती है। शरीरमें खून कहीं रुक जाय तो शरीर-नाश अवश्यम्भावी है। जो रुपयेके प्रवाहके तटपर रहकर उसके उपयोगसे अपनेको स्वस्थ और सश्रम बनानेकी जगह उस प्रवाही द्रव्यको अपनेमें खींचकर सञ्चित कर रखना चाहता है वह मूढ़ताका काम करता है। वह उसकी उपयोगिताका हनन करता और अपनी मौतको पास बुलाता है।

आदर्श अलग। हम यहाँ व्यवहारकी बात करते हैं, उपयोगिताकी बात करते हैं। दुनिया क्यों न स्वार्थी हो? हम भी स्वार्थकी ही बात करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति क्यों न समृद्ध बने? यहाँ भी उसी समृद्धिकी बात है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायी हो।

और हर एक व्यवसायी गहरा और अधिकाधिक होशियार व्यवसायी बने। हम यह देखते हैं कि व्यवसायी ही है जो मालदार है। यह अहेतुक नहीं है। यह भी हम जान रखें कि कोई महापुरुष,—जैसा पुरुष अव्यवसायी नहीं होता; हाँ, वह जरा जैसा व्यवसायी होता है। यहाँ हम यही दिखाना चाहते हैं कि दुनियामें अच्छेसे अच्छा सौदा करना चाहिए। कोई हरज नहीं अगर दुनियाको हाट ही समझा जाय। लेकिन जिसके बारेमें एक भक्त कविकी यह उक्ति उलहनेमें कहीं जा सके कि उसने—

‘कौड़ीको तो खूब सँभाला, लाल रतनको छोड़ दिया।’

उस आदमीको बता देना होगा कि लाल रतन क्या है और क्यों कौड़ीसे उसे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

हमारी गरज आँखोंको बाँध देती है। ईश्वरकी ओरसे मनुष्यकी अज्ञानताके लिए बहुत सुविधा है। बहुत कुछ है जहाँ वह भरमा रह सकता है। लेकिन भ्रमनेसे क्या बनेगा ? हम अपने ही चक्करमें पड़े हैं। जैसे फुलझड़ी जलाकर हम रङ्ग-विरङ्गी चिनगारियाँ देखते हुए खुश हो सकते हैं, वैसे ही अगर चाहें तो अपनी जिन्दगीमें आग लगाकर दूसरोंके तमाशेका साधन बन सकते हैं। लेकिन पैसेका यही उपयोग नहीं है कि उसकी फुलझड़ी खरीदी जाय, न जीवनका उपयोग ऐश और विलास है। धन-सञ्चयसे अपना सामर्थ्य नहीं बढ़ता।—धनका भी सामर्थ्य कम होता है, अपना भी सामर्थ्य कम होता है। इनजीको पेटके नीचे रखकर सोनेमें कुशल नहीं है। ऐसे विस्फोट न होगा, तो क्या होगा ?

पैसा खर्चके लिए नहीं है। पैसा संवर्धनके लिए है। संवर्धन, यानी जीवन-संवर्धन। धनका व्यय जहाँ संवर्धनोन्मुख नहीं है, वहाँ वह असामाजिक है, अतः पाप है। विलासोन्मुख व्ययसे सम्पत्ति नहीं; दीनता बढ़ती है।

धनमें गृद्धि उस धनकी उपयोगिताको कम करती है। प्रतिफलमें हमारी गरज जितनी कम होगी, उतना ही हमारी और उसके बीच फासला होगा। उस फासलेके कारण वह फल उतना ही बृहद् और मानवके उद्यमद्वारा वह उतना ही गुणानुगुणित होता जायगा। वही गम्भीर और सत्य व्यवसाय है जहाँ कर्मका और व्ययका प्रतिफल दूर होते होते अन्तिम उद्देश्यमें अभिन्न, अपृथक् हो जाता है,—जहाँ इस भाँति फलाकांक्षा है ही नहीं। विज्ञानके, व्यवसायके और अन्य क्षेत्रोंके महान् पुरुष वे हुए हैं, जिन्होंने तात्कालिक लाभसे आगेकी बात देखी; जिन्होंने मूल-तत्त्व पकड़ा और जीवनको दायित्वकी भाँति समझा; जिन्होंने नहीं चाहा विलास, नहीं चाहा आराम; जिन्होंने सुखकी ऐसे ही परवाह नहीं की, जैसे दुखकी। उनका तमाम जीवन ही एक प्रकारकी पूँजी, एक प्रकारकी सामिधा बन गया। उनका जीवन बीता नहीं,—वह हविष्य बना और सार्थक हुआ। क्योंकि वे एक विचारके प्रति, आदर्शके प्रति, एक उद्देश्यके प्रति, समर्पित हुए।

अर्थशास्त्रके गणितको फैलाकर भी हम किसी और तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते। यों अर्थशास्त्र अपने आपमें सम्पूर्ण स्वाधीन विज्ञान नहीं है। वह एकाकी स्वतन्त्र नहीं है। अब वह अधिकाधिक राजनीतिगत है, पॉलिटिक्स है। पॉलिटिक्स अधिकाधिक

समाज-शास्त्र (Social science) है। समाज-शास्त्र अधिकाधिक मानस-शास्त्र (Psychology) से सापेक्ष होता जाता है। मानस-शास्त्रकी भी फिर अपने आपमें स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्योंकि, व्यक्ति फिर समाजमें है और जो कुछ वह अब है, उसमें समाजकी तात्कालिक और तादृशिक स्थितिका भी हाथ है। इस तरह फिर वह मानस-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदिपर अन्तर-अवलम्बित है। आदि।

अर्थ-शास्त्रके आंकिक सवाल बनाने और निकालनेमें हम उसके चारों ओर कोई बन्द दायरा न खड़ा कर लें। ऐसे हम उसी चक्रके भीतर चक्र काटते रहेंगे, और कुछ न होगा। यह ठीक नहीं है। यह उस विज्ञानको सत्यकी समस्ततासे तोड़कर उसे मुरझा डालनेके समान है।

ऊपर हमने देखा है कि व्यावहारिक रुपये-पैसेके उपयोगका नियामक तत्त्व लगभग वही है, जो गीताका अध्यात्म मन्त्र है—अनासक्ति, निष्कामता। इस निष्कामताकी नीतिसे कर्मका प्रतिफल नष्ट नहीं होता, न वह ह्रस्व होता है। प्रत्युत्, इस भाँति, उसके तो असंख्य गुणित होनेकी सम्भावना हो जाती है। अत्यन्त व्यावहारिक व्यवहारमें यदि वह तत्त्व सिद्ध नहीं होता है जो कि अध्यात्मका तत्त्व कहा जाता है, तो मान लेना चाहिए कि वह अध्यात्म असिद्ध है, अ-यथार्थ है। अध्यात्म नहीं चाहिए, पर व्यवहार तो हमें चाहिए। व्यवहार-असङ्गत अध्यात्मका क्या करना है। वह निकम्मा है। गीतामें भी तो कहा है—‘योगः कर्मसु कौशलं।’

इस दृष्टिसे व्यक्ति न कह पायेगा कि सम्पत्ति उसकी है। इसमें

सम्पत्तिकी बाढ़ रुकेगी । खून रुकनेसे रोग होगा और फिर अनेक उत्पातोंका विस्फोट होगा ।

हमें अपने व्यवहारमें व्यक्तिगत भाषासे क्रमशः ऊँचे उठते जाना होगा । हम कहेंगे सम्पत्ति व्यक्तिकी नहीं, वह सहयोग-समितियोंकी है । कहेंगे, वह श्रमियोंकी है । कहेंगे, वह समस्त समाजकी है, जो समाज कि राष्ट्र-सभामें प्रतिबिम्बित है । कहेंगे कि वह राष्ट्रकी है । आगे कहेंगे कि राष्ट्र क्यों, वह समस्त मानवताकी है । इसी भाँति हम बढ़ते जायँगे । अन्त तक हम देखते जायँगे कि बढ़नेकी अब भी गुञ्जाइश है । किन्तु, ध्यान रहे कि निराशाका यहाँ काम नहीं, व्यग्रताका भी यहाँ काम नहीं । हम पानेके लिए तैयार रहें कि यद्यपि बुद्धिसङ्गत (rational) आदर्शमें बढ़-चढ़कर हम मानवतासे आगे विश्व-समष्टि तक पहुँच गये हों, तब भी सङ्घर्ष बना ही है । बात यह है कि समष्टि कहनेसे व्यष्टि मिटता नहीं है । व्यक्ति भी है । वह अपने निजमें अपनेको सत्ता अनुभव करता है । समष्टि हो, पर वह भी है । उसे इनकार करोगे, तो वह समष्टिको इनकार कर उठेगा । चाहे उसे इसमें मिटना पड़े, पर वह स्वयं अपनेको कैसे न माने ? ऐसी जगह मालूम होगा कि व्यक्तित्वकी धारणाको ब्रह्माण्डमें भी चाहे हम व्याप्त देखें, पर पिण्डमें भी उसे देखना होगा । और, उस समय हम विश्व-समष्टिके शब्दोंसे भी असन्तुष्ट होकर कहेंगे कि जो है, सब परमात्माका है । सब परमात्मा है । यह मानकर व्यक्ति अपनी सत्तामें सिद्ध भी बनता है और वह सत्ता समष्टिके भीतर असिद्ध भी हो जाती है । विचारकी दृष्टिसे तो हम देख ही लें कि इसके बिना समन्वय नहीं है । इसके इधर-उधर समाधान भी कहीं

और नहीं है । प्राइवेट सम्पत्तिके भावका उन्मूलन तभी सम्भव है जब हम मानें कि व्यक्तिकी इच्छायें भी उसकी अपनी न होंगी,—वह सर्वांशतः परमात्माके प्रति समर्पित होगा ।

इसलिए, लोगोंसे कहना होगा कि हाँ, सोशलिजेशनके लिए तैयार रहो । तैयार क्यों, उस ओर बढ़ो । लेकिन मालूम होता है कि सोशलिजेशनवालोंसे भी कहना होगा कि देखो भाई, उसके आगे भी कुछ है । उसके लिए भी हम सब उद्यत रहें, सचेष्ट रहें । फार्मूला कुछ बनाया है, इसमें हरज नहीं । पर फार्मूला फार्मूला है । फार्मूलासे कहीं बहुत चिपट न जाना । ऐसे वह बन्धन हो जाता है ।



दूर और पास

जब दूरबीन पहले-पहल हाथ आई तब विलक्षण अनुभव हुआ । सुना था उससे दूरकी चीज़ पास दीख आती है । लेकिन मैंने देखा तो पासकी चीज़ दूर हो गई थी । पीछे पता चला कि मैंने दूरबीनको उल्टी तरफसे देखा था ! फिर सीधी तरफसे देखा तो बात सही थी । दूरकी चीज़ बेशक पास दीखती थी । लेकिन इस ग़लतीसे भी लाभ हुआ । जब पासकी चीज़को दूर बनाकर देखा था तब दृश्यकी सुन्दरता बढ़ गई जान पड़ती थी । दूरकी चीज़ पास आ जानेसे दृश्यमें मोहकता उतनी न रह गई थी । पता चला —

दूरी मोह पैदा करती है,—Distance lends charm; दूरी मिट जाय तो सुन्दरताके बोधके लिए गुंजायश नहीं रहेगी ।

यह तो राह चलनेकी बात हुई । लेकिन जिस विचित्र अनुभवका जिक्र यहाँ करना है वह यह है कि जो चीज़ एक ओरसे दूरको पास करती है, वही दूसरी ओरसे पासको दूर बना देती है ।

अर्थात्, दूर होना और पास होना ये कोई निश्चित स्थितियाँ नहीं हैं । वे अपेक्षापेक्षी हैं । उनमें अदल-बदल हो सकता है ।

दूरबीनकी मददसे ऐसा होता ही है । लेकिन बिना दूरबीनके भी आँख नित्य प्रति ऐसा करती है, यह भी सही है । आँखमें तर-तमताकी शक्ति है । जो पासकी चीज़को देखती है वही आँख कुछ दूरकी चीज़ भी देख लेती है,—आँखकी नसें यथानुरूप फैल-सिकुड़कर आँखकी इस शक्तिको कायम रखती है ।

वस्तुओंका मूल्य भी इसपर निर्भर करता है कि हम उनसे कितने पास अथवा कितने दूर हैं। क्योंकि, दूरी और निकटता निश्चित मानके तत्त्व नहीं हैं, इसीसे किसी वस्तुका एक ही मूल्य नहीं है। वह मूल्य अलग अलग लोगोंकी निगाहमें अलग अलग है और देश-कालके अनुसार घटता-बढ़ता रहता है।

दूरकी बड़ी चीज़ छोटी लगती है, पासकी छोटी बड़ी। आँखके आगे दो उँगली खड़ी कर ले तो सूरज ढँक जाता है। पर सूरज बहुत बड़ा है, दो उँगलियोंकी चौड़ाई उसके सामने भला क्या है ? फिर भी, पास होनेसे मेरे हिसाबसे दो उँगलियाँ सूरजसे बड़ी बन जाती हैं और सूरजको देखनेसे रोक सकती हैं। पासका पेड़ बड़ा दीखता है, दूरका पहाड़ उमरी काली लकीर-सा दीखता है।

परिणाम निकला कि बाहरी छुट-बढ़पन कोई निश्चित मानका तत्त्व नहीं है, वह प्रयोजनाश्रित तथ्य ही है।

इसलिए, असल प्रश्न यह हो रहता है कि हमारी तर-तमताकी शक्ति कितनी है ? आँखकी दृष्टिकी वह शक्ति तो परिमित ही है, लेकिन मनकी दृष्टिकी शक्तिका परिमाण वैसा बँधा नहीं है। वह उत्तरोत्तर बढ़ाया जा सकता है। मनकी दृष्टि-शक्तिका नाम है, कल्पना।

जो नहीं दीखता, कल्पना उसे भी देखती है। जो पास है, कल्पना उसे भी दूर बना सकती है। जो बहुत दूर है, कल्पना उसे भी खींचकर प्रत्यक्ष कर देती है।

कल्पना दूरबीनकी भाँति बड़ी उपयोगी चीज़ है। पर उसके

उपयोगकी विधि आनी चाहिए। अन्यथा वह कीमती खिलौनेसे अधिक कुंछ नहीं रह जाती।

पर नहीं, वह हर हालतमें कीमती खिलौनेसे अधिक है। कीमती खिलौना तो ज्यादाहसे यादह टूटकर रह जायगा। पर कल्पना खुद नहीं टूटती, आदमीको तोड़ती है। उसका ग़लत उपयोग हुआ तो वह आदमीको तोड़-मोड़कर पशु बना सकती है। उसके ठीक इस्तेमालसे आदमी देवता बन जाता है। इसलिए, कल्पना खिलौना नहीं है और उससे खेलनेमें सावधान रहना चाहिए।

दूरबीन जिसके पास पैसा है वही बाज़ारसे ले सकता है, पर कल्पना तो सभीको मिली है। उसके लिए किसीको भी किसी बाज़ारमें भटकना नहीं है। वह भीतर मौजूद है। सवाल इतना ही है कि उसका इस्तेमाल होता रहे और वह मैली न हो और न ढीली-ढाली हो जाय। ठीक कामके लायक रहे और वह बहके नहीं।

सच बात यह है कि जैसे निगाह खराब होनेका मतलब यही है कि उसमें दूरको ठीक दूर और पासको ठीक पास देखनेकी शक्ति नहीं रह गई है वैसे ही बुद्धिकी खराबीका मतलब सिवा इसके कुछ नहीं है कि कल्पनाकी लचक उसमें कम हो गई है।

हमारा रोज़का अनुभव है कि अगर अपने ही हाथको हम अपनी आँखोके बहुत निकट लाते चले जायँ तो अन्तमें आँख काँच नही देगी और माछम होगा कि जैसे हाथ रहा ही नहीं है। किसी भी तसवीरको हम पाससे और पास देखनेका आग्रह करके उसे सिर्फ़ धब्बा बना दे सकते हैं। यहाँ तक कि उसे अपनी आँखसे बिल्कुल सटा लेकर कह सकते हैं कि वह कुछ भी नहीं है, क्योंकि

हमें कुछ भी नहीं दीखता है । इस भाँति हरेक सुन्दरता ज़रूरतसे अधिक पास ले लेनेपर असुन्दर और फिर असत् हो जायगी ।

इसलिए, हमारा प्रत्येकके प्रति एक प्रकारका सम्मानका अन्तर चाहिए ही । उस अन्तरको मिटाकर भोगकी निकटता पैदा की कि वहाँ सुंदरता भी लुप्त हुई ।

यह रोज़का ही अनुभव है । हम चीज़ोंको देखते हैं और वे सुन्दर लगती हैं । सुन्दर लगती हैं, तो हम उन्हें चाहने लगते हैं । चाहने लगते हैं तो उन्हें पानेकी लालसा करते हैं । इस लालसाकी बुद्धिसे हम उन्हें छूते हैं,—पकड़ते हैं, अर्थात् उन्हें मर्यादासे अधिक अपने निकट ले लेते हैं । परिणाम होता है कि हमारा संभ्रम मिट जाता है और जिसको मनोरम मानकर चाहा था वह धीमे धीमे बीमत्स हो जाता है और हमारे चित्तको ग्लानि होने लगती है । तब उकता कर उसे छोड़ हम दूसरी ओर लपकते हैं । पर वहाँ भी वही होता है और वहाँ भी अन्ततः ग्लानि हाथ आती है ।

अनुभवमें आया है कि जिस जगहमें हमें बिल्कुल दिलचस्पी नहीं हुई है, वहाँके फोटोग्राफ लुभावने हो जाते हैं । खंडहर हमारी निगाहमें खंडहर है लेकिन उसीका चित्र कभी हमारे लिए इतना सुन्दर हो जाता है कि हम सोच भी नहीं सकते थे ।

यह इसीलिए कि फोटोग्राफ़से हमारी पर्याप्त अलहदगी है । फोटोग्राफ़में हम उस दृश्यको एकत्रित भावमें देख सकते हैं । आग्रह वहाँ हमारा मंद है । वहाँ हमारे मनकी स्थितिसे विलग भी उसकी सत्ता है । मानों उस चित्रका अस्तित्व ही नहीं, व्यक्तित्व है ।

परिणाम यह कि दूरी भी कभी बिल्कुल नष्ट नहीं हो जानी चाहिए । दूरी बिल्कुल न रहे तो आँख बिल्कुल न देख पाये, बुद्धि बिल्कुल न समझ पाये । और मनपर जोर इतना पड़े कि ठिकाना नहीं और तिसपर भी चहुँ ओर सिवा अंधेरेके कुछ न प्रतीत हो ।

सब वस्तुओं, सब स्थितियों, सब दृश्यों और व्यक्तियोंके प्रति यह समादरकी दूरी इष्ट है । इसको विनय-भाव कहिए, अनासक्ति कहिए, समभाव कहिए, असंलग्नता कहिए, दृष्टिकी वैज्ञानिकता कहिए,—चाहे जिस नामसे इसे पुकारिए । संबंधमें एक प्रकारकी तटस्थता ही चाहिए । जो भी हम छू रहे, देख रहे, चाह रहे हैं, ध्यान रखना चाहिए कि उसका अपना भी स्वत्व है । वह प्रयोजनीय पदार्थ ही नहीं है । वह भी अपने-आपमें सजीव और सार्थक हो सकता है । उसमें भी वह है, जो हममें है । एक ही व्यापक तत्त्व दोनोंमें है । जो हम है वही वह है । इसलिए किसी अविनयका अथवा आहरणका संबंध हमारा कैसे हो सकता है ? संबंध प्रेम, आनंद और कृतज्ञताका हो सकता है । जिसको कल्पना कहा, उसका इसी जगह उपयोग है ।

जो हम हैं वह तो कोई भी नहीं है । हम जैसे बुद्धिमान् हैं, क्या कोई दूसरा वैसा हो सकता है ? साफ बात तो यह है कि हम हमी हैं । कोई भला हम-जैसा क्या होगा ? असंस्कारी अहंकारी बुद्धि इसी प्रकार सोचती है ।

लेकिन इससे यही सिद्ध होता है कि ऐसा सोचनेवालेकी कल्पना-शक्ति क्षीण हो गई है । कल्पना हमें तुरन्त बता देती है कि हम अनेकोंमें एक हैं और अपनेमें अहंकार अनुभव करनेका तनिक भी

अवकाश नहीं है। वह कल्पना हमें बताएगी कि दूसरेमें भी अहंकार हो सकता है, और है, और उस अहंकारका खयाल रखकर चलना ही ठीक होगा। वह कल्पना हमें सबके अलग अलग स्थान समझनेमें मदद देगी और सुझाएगी कि समस्तके केन्द्र हम नहीं हैं जैसा कि हम आसानीसे समझ लिया करते हैं।

वैसी तटस्थताकी दूरी जगत् और जगत्की वस्तुओंके साथ स्थापित करनेके बाद आवश्यक है कि हम उनसे भावनाकी निकटता भी अनुभव करें। दूरी तो है ही, पर निकटता और भी घनिष्ठ भावसे आवश्यक है। वैसी निकटताका बोध जीवनमें नहीं है तो जीवनमें कुछ रस भी नहीं है।

जिस शक्तिसे यह हो, उसका नाम है भावना। यह भावना प्रभेद-मूलक है। यह दोको एक करती है, यह दूरीको नष्ट करती है। 'नष्ट करती है' का आशय यह कि उसके पासलेको यह रससे भर देती है।

जब पहले पहल खुर्दबीनमेंसे झाँक कर देखनेका अवसर हुआ था, तो आश्चर्यमें रह जाना पड़ा था। बाहर कुछ भी नहीं दीखता था, एक नन्हा,—बहुत ही नन्हा-सा पत्तेका खण्ड डैस्कपर रक्खा था। वह है, इसमें भी शक हो सकता था। उसकी हस्ती कितनी थी। साँस उसपर पड़े तो बेचारा उड़कर कहाँ चला जाय, पता भी न चले। लेकिन, खुर्दबीनमेंसे जब देखता हूँ तो देखता हूँ कि क्या कुछ वहाँ नहीं है। जो आश्चर्यकारक है, जो महान् है, वह सभी कुछ वहाँपर भी है। एक दुनियाकी दुनिया उस पत्तेके खंडके भीतर समाई है। वह पत्तेका टुकड़ा क्या कभी पूरी तरह जाना जा सकेगा? उसमें

कितना रहस्य है, कितना सार ! उसमें क्या अगाध अज्ञेयता नहीं है ? जाने जाओ, जानें जाओ, फिर भी जाननेको वहाँ बहुत-कुछ शेष रह ही जायगा । खुर्दबीनमेंसे उस बिंदी-भर पत्तेको मैंने इतना फैला हुआ देखा कि मानों वही विश्व हो । उसमें मानों नगर थे, मैदान थे, समन्दर थे । लेकिन वहाँसे आँख हटानेपर क्या मैंने नहीं देख लिया कि हरी-सी-बूँद-जितने आकारके उस पत्तेकी सत्ता इस जगत्में इतनी हीन है,—इतनी हीन है कि किसी भी गिनतीके योग्य नहीं है !

फिर भी वह है, और नहीं कहा जा सकता कि अपनेमें वह स्वतंत्र सृष्टि नहीं है । वह खंड वैसा ही स्वयं हो सकता है जैसा मैं अपनेमें स्वयं हूँ । तब मैं कैसे उसके प्रति अविनयी हो सकता हूँ ?

‘यहीं’ भावनाकी आवश्यकता है । कल्पनाने मुझे मेरा स्थान बताया और सबका अपना अपना स्थान बताया । उसने मुझे स्वतंत्रता दी, उसने अपनी ही मर्यादाओंसे मुझे ऊँचा उठाया, उसने मुझे अनंत तक पहुँचने दिया और मेरी सांतताके बन्धनकी जकड़को ढीला कर दिया ।

भावना उसी मेरी व्यापकतामें रस प्रवाहित करेगी । उसमें अर्थ ढालेगी । जो दूर है, उसे पास खींचेगी । भावनासे प्राणोंमें ‘उभार’ आएगा और जिसे कल्पनाने संभव देखा था, भावना उसीको सत्य बनाएगी ।

‘जो ब्रह्माण्डमें है पिण्डमें भी वह समी-कुछ है । ब्रह्माण्डको छूनेकी ओर कल्पना उठी, तो भावना उसी सत्यको पिण्डमें पा लेनेकी साधिका हुई । Extensity (=विस्तृति) में नहीं, Intensity

(=घनता) द्वारा ही वह सम्पूर्णको अपनाएगी । दर्शनकी मर्यादा अगम है, पर प्रीति-भक्तिकी क्षमता उससे भी गहरी जायगी । प्राणोंका उभार (=Tension) कल्पनाकी उड़ानसे अधिक सार्थक हो सकेगा । उससे उपलब्धि गम्भीर होगी ।

कल्पना और भावना ये दोनों ही जीवनकी प्रगतिके मूलमें हैं । दोनों अनिवार्य हैं, दोनों अमूल्य हैं । पर दोनोंका खतरा भी बहुत है । दोनोंसे मनुष्य विराट्की ओर बढ़ता है, पर इन्हींसे वह अपना विनाश भी बुला सकता है ।

भावनासे जब हम परस्परमें ' क्लेश-क्लिष्ट ' दूरी पैदा करते हैं और कल्पनाहीन बुद्धिसे लालसाजनित निकटतामें रमण करते हैं, तब ये ही दोनों शक्तियों हमारी शत्रु हो जाती है और हमारा अनिष्ट-साधन करती है । जो मेरे पास है, वह मेरा स्वत्व नहीं है, क्योंकि उसका अपनेमें अलग स्वत्व भी है । कल्पनाहीन होकर हम प्राणको ऐसे पाते हैं, मानो उसकी सार्थकता हमारे निकट प्राप्त होनेमें ही है । यह हमारी भूल है और इससे हमारी अपनी ही प्राप्ति का रस ह्रस्व होता है । यही मानवका मोह और अहंकार है ।

दूसरी ओर भावनाको हम दुर्भावना बना उठते हैं और उसके सहारे परस्परकी निकटता नहीं बल्कि दूरी बढ़ा लेते हैं । मन ही एक हो सकता है, तन अनेक हैं । पर मन हम फटने देते हैं, और तनकी निकटताके कामुक होते हैं । नतीजा इसका विनाश है ।

जो दूर है उसे दूर, जो पास है उसे पास जानना होगा । फिर भी जानना होगा कि दूर है वह भी पास है और जो पास मात्स्य होता है, उसे भी दूर रखनेकी आवश्यकता हो सकती है । तन

जुदा जुदा हैं, आत्मा एक है । आत्मैक्यको कल्पनाद्वारा प्राप्य और भावनाद्वारा सुलभ बनाना होगा । और अपनी एवं सबकी देहकी अभिन्नताके प्रति सम्मान और संभ्रमका भाव रखना होगा । सबके स्वत्वका आदर करना होगा, किसी स्वत्वका आहरण एवं अपहरण गर्हित समझना होगा । यही दूर और पासका भेद है । इस दूर और पासकी तर-तमताका भेद हमने खोया तो समझो अपनेको ही खोया । उसको जानकर हम अपनेको पानेका प्रयत्न करें, यही शुभ है ।



निरा अ-बुद्धिवाद

सुना जाता है कि शूतुरमुर्ग जो अफ्रीकाके रेतीले मैदानोंमें होता है विचित्र प्राणी है। वह जब शत्रुकी टोह पाता है तो और कुछ करता नहीं, रेतमें मुँह डुबका लेता है। शत्रु फिर निरापद भावसे आकर उसका काम-तमाम कर देता है। वह जानवर शूतुरमुर्ग इस भाँति शांतिपूर्वक मरता है।

हम लोग शायद उसकी मरनेकी पद्धतिसे सहमत नहीं हैं। उसका मरना हमारे मनसे कोई ग़लत बात नहीं है। उसकी बेवकूफीकी सज़ा ही समझिए जो मौतके रूपमें उसे मिलती है। ऐसे वह न मरे तो अचरज। मरना तो उसका उचित ही है। और हम मनुष्य जानते हैं कि शूतुरमुर्ग मूर्ख प्राणी है।

मूर्ख तो वह हो; लेकिन इतना कहकर बातको हम टालें नहीं। उसे मूर्ख कह देकर आदमी शायद स्वयं अपनेको कुछ बुद्धिमान् लग आता हो। पर हमें इसमें सन्देह है कि दूसरेको मूर्ख कहनेके आधारपर खुद बुद्धिमान् बननेका ढंग ठीक है। तिसपर वह शूतुरमुर्ग क्यों मूर्ख है? और हम क्यों नहीं हैं? और मूर्ख होनेमें सुभीता यदि हो तो फिर हरज क्या है?—आदि बातें सोचनेकी है।

घरमें एक छोटी बच्ची है। नाम अभी है मुन्नी। सदा खेलती रहती है। एक खेल उसे प्रिय है। वह मुन्नी किसी सूखती हुई धोती या बक्स या कुर्सीके पीछे होकर मुँह ढककर चिछाएगी—
'अम्माँ ! मुन्नीको ढूँढो।' अगर अम्माँ एक बारमें ध्यान नहीं देगी

तो मुन्नी उससे उलझ पड़ेगी । कहेगी—‘ अम्माँ, अरी अम्माँ, देख । ’ और जब अम्माँ उसकी ओर मुखातिब होगी तब सामने दूर जाकर मुँहकी ओट करके कहेगी, ‘ मुन्नी नहीं है, अम्माँ । मुन्नी नहीं है, मुन्नीको ढूँढ़ो । ’

तब मुन्नीकी अम्माँ भी सारे कमरेमें इधर-उधर, कभी कलमदानके नीचे, कभी होल्डरके निबमें, ग्लासमें या सूईके नकुएमें, यहाँ-वहाँ और जहाँ-तहाँ खोज मचाती हुई मुन्नीको ढूँढ़ती है, कहती जाती है,—‘ अरे मुन्नी कहाँ है ? (कपड़ेको उलट-पलटकर) अरे कहाँ है ? मुन्नी, ओ मुन्नी । ’

और मुन्नी सामने खड़ी-खड़ी चोरी-चोरी अम्माँके यत्नोंकी विफलता देखकर और उसमें रस लेकर मुँहको दोनों हाथोंसे ढककर कहती है—‘ मुन्नी नहीं है, अम्माँ । मुन्नी नहीं है । ढूँढ़ो । ’

अम्माँ बहुतोरा ढूँढ़ती है, पर सामने खड़ी हुई मुन्नी नहीं मिलती । ओह ! जाने कितनी देर बाद वह मिलती है । मिलनेके बाद ही दो कदम भागकर फिर मुँह दुबकाकर खड़ी हो जाती है, कहती है—‘ अम्माँ, मुन्नी फिर नहीं है, और ढूँढ़ो । ’

मुन्नीको इस खेलमें बड़ा आनन्द आता है । हमें भी आनन्द आता है । हम कहते हैं—‘ मुन्नी है । ’ और वह भागकर किसी वस्तुकी ओट लेकर कहती है—‘ मुन्नी नहीं है । ’ अपनी आँखें बन्द करके समझती है, वह नहीं रही है ।

अभी तक ऐसा अवसर नहीं आया कि हमारे मनमें इच्छा हुई हो, कि उसको बुलाकर विद्वत्तापूर्वक समझावें । कहें, कि पगली सुन, तेरे देखने और दीखनेपर औरोकी अथवा तेरी सत्ता निर्भर नहीं है;

यथार्थता समझ, लड़की, और मूर्खता छोड़। ऐसा हमने अब तक नहीं किया और अचरज यह है कि ऐसा न करनेके लिए कभी अपनेको मूर्ख भी हमने नहीं माना। इस खेलको हमने प्रसन्नता-पूर्वक खेल लिया है और कभी यह नहीं सोचा है कि मूर्खता ग़लत चीज़ है और हमें मुन्नीका उससे उद्धार करना ही चाहिए।

हमें सन्देह है कि मुन्नीको यदि हम अपनी बुद्धिमत्ता देने लग जायँ तो वह उसे नहीं लेगी। इतना ही नहीं, वरन् वह उस हमारी बुद्धिमत्ताको मूर्खता समझेगी और अपनी मूर्खताको स्पष्ट रूपमें तर्कशुद्ध ज्ञान जानेगी।

हम कैसे जानते हैं कि मुन्नी ग़लत है ? जब वह कहती है कि 'वह नहीं है' तब भी वह ग़लत कहाँ कहती है; क्योंकि जैसा जानती है वैसा ही तो कहती है। वह (उस समय) जानती ही यह है कि 'वह नहीं है'।

वास्तव वास्तविकता तत्सम्बन्धी हमारी धारणासे भिन्न क्या वस्तु है ? भिन्न होकर वह है भी या नहीं ?—यह अभी निर्णय होनेमें नहीं आया। न कभी आयेगा। अकाव्य-रूपमें हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सत्य मानवके लिए चिर-अप्राप्य, अतः चिर-शोध्य है। वह सत्य क्या मनुष्यसे बाहर भी व्याप्त नहीं है ? जो बाहर भी है वह मनुष्यके भीतर ही कैसे समायेगा ? उस सर्वव्यापी सत्यकी मानव-निर्मित धारणाएँ ही मानवीय ज्ञान-विज्ञान हैं, वे स्वयंमें सत्य नहीं हैं। अपने सब ज्ञानके मूलमें 'हम' है। वह ज्ञान सत्य है तो बस हमारा होकर है। हमारा नहीं, तब वह हुआ न हुआ एक-सा है। हर सत्यको अपनी सत्ताके लिए हमपर इस निमित्त निर्भर रहना

होगा, कि हम उसे जानें। यह बात साफ है। इसको समझनेसे कोई इनकार नहीं कर सकता, न कोई दार्शनिक इस बातकी मान्यतासे बाहर पहुँच सकता है।

जब ऐसा है, जब हमसे अलग होकर सचाई कुछ है ही नहीं, अथवा है तो नहीं जैसी है, तो यह अप्रामाण्य बनता है कि हम शत्रुमुर्गको ग़लत और अपनेको ठीक कहें।

शत्रुमुर्गको तो शायद हम ठीक न कह सकेंगे। उसको ठीक कहनेके लिए हमें अपनेको इनकार करना होगा। हम तो दोनोंको देखते हैं न—शत्रुमुर्गको भी, उसके शत्रुको भी—इस लिए रेतमें सिर दबाकर शत्रुसे बचनेकी शत्रुमुर्गकी चेष्टाको हम सही कैसे कह सकते हैं? और शत्रुमुर्गके ग़लत होनेका प्रमाण उसीके हकमें यह भी है कि शत्रु आकर उसे दबोच लेता है। इस लिए यह तो असंभव है कि शत्रुमुर्ग ठीक हो। लेकिन जब वह ठीक नहीं है तब हम भी ठीक कैसे हो सकते हैं, यह विचारणीय है। हो सकता है कि हमारी हालत शत्रुमुर्गसे इतनी ही भिन्न हो, कि हम शत्रुमुर्ग न होकर आदमी हैं। अन्यथा कैसे कहें, कि यथार्थमें हम दोनोंमें बुद्धिकी अपेक्षा खासी समता नहीं है।

मान लिया जाय कि शत्रुमुर्ग बुद्धिसे शत्रुमुर्ग है, लेकिन बात-चीतमें आदमी है। तब क्या वह हमको मूर्ख नहीं समझेगा? 'जो दीखता है, उतना ही है। जो नहीं दीखता है, वह इसीलिए तो नहीं दीखता कि नहीं है'—शत्रुमुर्गके ज्ञानका तब यह है। हम मानव उसे थोथे अज्ञेयवादी, अदृष्टवादी जान पड़ेंगे। जो अज्ञात है, उसके होनेमें क्या प्रयोजन? वह न हुआ भला। वह नहीं ही है।

और शुतुरमुर्ग के निकट जो दृश्य है, उतना ही ज्ञात है, उतना ही ज्ञेय है। अतः जितना दीखता है, उसके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं,—यह होगा उस मानवरूपी शुतुरमुर्ग का जीवन-सिद्धान्त। तदनुरूप उसकी जीवन-नीति भी यह हो जाती है कि—‘जो अनिष्ट है, उसे मिटाने का सीधा उपाय है उसे न देखना। अनिष्ट पर इसी भाँति विजय होगी। अनिष्ट यों ही असत् होगा। इस लिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, जब भय हो अथवा सन्देह हो, तब आँख मीच लो। भय की आशंका और सन्देह की शंका से इस भाँति मुक्ति प्राप्त होगी।’

अब, क्या मानव-बुद्धि-द्वारा-निर्मित तर्क-सम्मत नीति भी लगभग इसी प्रकार की नहीं है ?

उस नीति पर चलने से शुतुरमुर्ग शत्रु से नहीं बच पाता। शत्रु को उलटे अपनी ओर से वह सुविधा पहुँचाता है और बेमौत मर जाता है। अतः कहा जा सकता है कि वह नीति विफल है, भ्रान्त है। हम भी खुद ऐसा मानते हैं।

पर उस नीतिकी (जो आज मानव-नीति भी हो रही है) वकालत में यह कहा जा सकता है कि मरना तो सबको है। कौन नहीं मरता ? असल दुश्मन मौत है। किसी और को दुश्मन भला क्यों मानें। कोई हमें क्या मारेगा। बात तो यह है, कि मौत हमें मारती है। जिसे दुश्मन मानते हो वह तो यम देवता का साधन है, वाहन है। असल में तो भाग्य के पंजे में सब हैं। यम उसी भाग्य का प्रहरी है। उसके आघात से तो बचकर भी बचना नहीं है। मौत हमें आ दबोचेगी ही। प्रश्न उससे बचने का नहीं है, और मुँह

दुबका लेनेसे क्या शत्रुमुर्ग सचमुच भयसे छुटकारा नहीं पा जाता ?
फिर वह मर भी जाय तो क्या ?

मानना होगा कि प्रश्न अन्तमें किसी भी शत्रुसे बचनेका उतना नहीं है । उतना क्या, बिलकुल भी नहीं है । तमाम प्रश्न (उसके) भयसे बचनेका है । यह तो हम जानते ही हैं कि डरकर हम चाहे कितना ही भागें, हटें, छिपें, पर मौतके चंगुलसे बचना नहीं होगा । इस प्रकारके सब प्रयत्न निष्फल होंगे । अतः एक ही लक्ष्य हमारे सामने रह सकता है और वह यह कि मरनेकी घड़ी हम सीधे ढँगसे मर जायँ, पर मरनेसे पहले थोड़ा भी न मरें, अर्थात्, मरनेके भयसे बचे रहें ।

क्या यही लक्ष्य नहीं है ? और क्या इसी लक्ष्यके साधनमें मनुष्यने धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कला-विज्ञान आदि नहीं आविष्कृत किये ? फिर शत्रुमुर्गको मूर्ख क्यों कहते हो ?

शत्रुमुर्गके वकीलके जवाबमें क्या कहा जावे ? पर एक तो भयसे बचनेकी पद्धति स्वयं भयका भय है । यह शत्रुमुर्गकी है । अधिकांशमें मानवके यत्न भी उसी पद्धतिके हैं । पर दूसरा, भयको निर्भयतासे जीतनेका उपाय है । इसमें भयसे छिपा नहीं जाता, उस-पर विजय पाई जाती है । उसका सामना किया जाता है ।

शत्रुमुर्गने अपनेको रेतमें गाड़ लिया और भयसे बचा लिया । इस भाँति वह सहज भावसे मर गया । आदमीने धर्मकी सृष्टि की, उसमें अपनेको गाड़ लिया और राम-नाम लेता हुआ कृतार्थ भावसे मर गया । धर्मसे उतरकर उसने कर्तव्य, देश-भक्ति, त्याग, बलिदान आदि-आदि अन्यान्य मंतव्योंकी सृष्टि की, जिनके भीतर निगाह गाड़े

रखकर वह हार्दिकतापूर्वक मर गया। असलमें सब बात मरते समय सहज भाव रखनेकी है। जो जितना निर्भय है, सरल भावसे मर सकता है, वह उतना ही सफल है। लेकिन स्पष्ट है कि इसके लिए बुद्धिकी निगाहको बाँधकर कहीं न कहीं गाड़ लेना जरूरी है।

हाँ, जरूर गाड़ लेना जरूरी है। पर इसमें और शुतुरमुर्गकी क्रियामे अन्तर हो सकता है। एक भय-जन्य है तो दूसरी श्रद्धा-प्रेरित हो सकती है।

एक प्रकारके मतवादी है जो तर्कपूर्वक सिद्ध करते हैं कि आँख चारों ओर देखनेके लिए है। बुद्धि स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व चौमुखी है। श्रद्धा अन्धी वस्तु है। किसी भी अज्ञेय वस्तुका पछा पकड़कर नहीं बैठना होगा। सब कुछ तोलना होगा। ये लोग डिजाइनर हैं और तरह-तरहकी साइन्सोंके चौखूँटे नकशे बनाकर दिया करते हैं।

ऐसे लोग ज्ञान-विज्ञानकी बहुत छान-बीन करते देखे जाते हैं। उनका जीवन विवेचन-शील, संभ्रांत और सुखमय होता है। ये लोग सब बातोंको तोलते, जाँचते और परखते हैं। किसीपर श्रद्धा नहीं रखते, किसीपर फिर अश्रद्धा भी नहीं रखते। उदार, संयत, सीधे-सादे खूढ़िपर चलनेवाले जीव ये होते हैं।

लेकिन मौतका इन्हें बड़ा भय होता है। दूसरेकी भी और अपनी भी मौतका। मौतकी व्याख्या तटस्थ भावसे ये करते हैं; पर उसकी ओर निगाह नहीं उठने देते। ये श्रद्धाके कायल नहीं। इससे इनकी जीवन-नीति भयके आधारपर खड़ी होती है। भयमेंसे नियम-कानून, पुलिस-फौज, अदालत-जेल, शासन-अनुशासन, अस्त्र-शस्त्र आदि बनते हैं। भय अद्भुत-रूपमें सहनशील है। वह ज़बर्दस्त शक्तिको

उत्पन्न करता है। भय-जात साहस और भय-जात बलमें आसुरी प्रबलता है। भय एक दृष्टिसे उपकार भी करता है। उससे निर्मीकताकी अनिवार्य आवश्यकता प्रकट होती है। भय निस्सन्देह उन्नतिके मार्गमें बहुत जरूरी है। पर भय उभय है। उससे मौत पास खिंचती है। वह मौतको न्यौता है।

श्रद्धामेंसे शास्त्र-पुराण, साहित्य-विज्ञान, कला-दर्शन, क्रान्ति और बलिदान बनते हैं। श्रद्धा मौतको प्रेम भी कर सकती है। इस लिए नहीं कि वह मौत है; बल्कि इस लिए कि श्रद्धा जानती है कि मृत्यु जीवनकी दासी है। श्रद्धा जानती है कि यदि जीर्णकी मौत है तो इसी निमित्त कि नूतनकी सृष्टि हो और जीवन उत्तरोत्तर पल्लवित हो। श्रद्धा आँख नहीं मीचती। वह आँख खोले रखकर मौतमें जीवनके संदेशको और शत्रुमें वंधुको पहचानती है।

हम कह सकते हैं कि वह श्रद्धा है तो मनुष्य शुचरमुर्ग नहीं है; पर हम उस मतवादीसे कैसे पार पायें जो मनुष्यको इतना तर्क-संगत और विज्ञान-शुद्ध बनाना चाहता है कि श्रद्धा उसके पास न फटके। तब हम उस बुद्धिवादीको शुचरमुर्गका वकालि कहते हैं।

मुझे इसमें संदेह है कि आँख एक ही क्षणमें चारों ओर देखती है। मुझे प्रतीत होता है कि वह एक पलमें एक ही ओर देखती है। और मुझको ऐसा भी मालूम होता है कि हमारी बुद्धिमें दृश्यको Perspective देखनेकी शक्ति न हो तो आँख देखकर भी कुछ न देख सके। Perspective की शक्ति अर्थात् दृश्यकी विभिन्नतामें एकता देखनेकी शक्ति। इसी प्रकार व्यक्तित्वको चहुँमुखी होनेके लिए एक निष्ठाकी आवश्यकता है। शंकाके सामर्थ्यके लिए निश्शंकित

चित्त चाहिए और अन्वयकी शक्तिके लिए समन्वयकी साधना चाहिए। मुझे इसमें बहुत संदेह है कि वह बुद्धि जो चारों ओर जाती है, किसी भी ओर दूर तक जा सकती है। मुझे इसमें भी बहुत सन्देह है कि जिसको श्रद्धाका संयोग प्राप्त नहीं है, वह बुद्धि कुछ भी फल उत्पन्न कर सकती है, बुद्धि अपने आपमें बन्ध्या है। वह भयमेसे उपजी है और भयाश्रित बुद्धि लगभग शूतुरमुर्ग-जैसी है। उससे निस्सन्देह मदद बहुत भी मिलती है। उसकी मददसे व्यक्ति थोड़ी बहुत निर्भयता भी सम्पादन करता है; पर वह अंततः मनको उठाती नहीं है और स्वयं भी विकारहीन नहीं है।

किसी बृहत्तर अज्ञेयमे अपनेको गाढ़ देनेसे हम अपनेको संकुचित नहीं बनाते। अपनी बुद्धिके भीतर रत रहनेसे जैसे हम ह्रस्व होते हैं उसी भौति श्रद्धापूर्वक विराट् सत्ताके प्रति समर्पित हो रहनेसे हम मुक्तिकी ओर बढ़ते हैं। धर्म, आदर्श, बलिदान आदिकी भावनाएँ मनुष्यकी इसी प्रकार अम्युदय स्फूर्तिका फल है और वह इन भावनाओंद्वारा अपने ही घेरेसे ऊँचा उठता है।

शूतुरमुर्गकी कथा मनुष्यपर ज्योंकी त्यों लागू है, अगर वह भयको जीतनेके लिए अपनी भयाक्रान्त धारणाओंमें ही दुबकता है। साधारणतया हम उस कथाके उदाहरणके प्रयोगसे बाहर नहीं होते। लेकिन हम बहुत कुछ बाहर हो जाते हैं जब कि अपने बचावकी चिन्ता नहीं करते प्रत्युत् (मालूम होनेवाले) शत्रुके सम्मुख बढ़ चलते हैं। शत्रुको जब हम अपनेसे भिन्न देखते ही नहीं और उससे भागनेकी जरूरत नहीं समझते, तब हमारी बुद्धि स्वस्थ रहती है। तब हम धीर, प्रसन्न, प्रेम भावसे उसे अपनाते हैं;

फिर इसमें चाहे हमें उसके हाथों मौत ही मिले । पर मौतमें हार नहीं है, हार तो भयमें है । मौत तो जीवन-तत्त्वकी प्रतिष्ठामें नियुक्त एक सेविका मात्र ही है ।

हमारे घरकी जो मुन्नी अपनी आँखें मूँद कर समझ लेती है कि वह नहीं रही, असलमें वह हममेंसे अधिकांशकी बुद्धिकी प्रतिनिधि है । न देखना, न होना नहीं है और हम बहुधा इसी चक्रमें पड़े हैं । बुद्धि पग-पग पर हमें बहकाती और फुसलाती है । वह प्रवंचना है, वह भयकी प्रतिक्रिया है । भय उपयोगी है, यदि वह श्रद्धा और प्रार्थनाकी ओर ले जाय । श्रद्धा भयका काट है । भय संहारक है (जैसा कि वह है) यदि वह अस्त्र-शस्त्र और अहंभावकी ओर ले जाता है । हम जान रखें कि एक साहस है जो भयमेंसे उपजता है । वह आवेश-युक्त, ज्वराक्रान्त और पर्याप्तसे अधिक तीखा होता है । वह दूसरेको डराकर अपनेको साहस सिद्ध करता है । वह चमत्कृत भयका प्रति-रूप है । हमारी बुद्धि भी अहंजन्य भीरु साहसिकताको अपनाती और पोसती है; पर वह साहस सस्ती चाँज़ है और नकली है । वैसी साहसिकता भीरुता नहीं भी हो तो प्रमत्तता अवश्य है । शराब पीकर जो दुर्बल बड़ी ढींगें हाँकता है, वह ढींगें उसकी उस दुर्बलताको ही व्यक्त करती हैं । कृपया कोई उन्हें बल न समझे । हमारी बुद्धि बड़ी ठगिनी है । क्षीण-शक्ति पुरुष क्यों शराबकी ओर जाता है ? इसीलिए कि वह अपनेको ठगना चाहता है । नहीं तो अपनी ही क्षीणता उसे असह्य होती है । कुछ देर तकके लिए क्यों न हो वह अपनेसे बचनेके लिए नशेका सहारा पकड़ता है । बुद्धि हमें बताती है कि हम हम हैं और वह अमुक हमारा

शत्रु है और वह दूसरा भी हमारा शत्रु है—इस भाँति वह हमें भरमाती है। पर हमारा शत्रु बाहर कहाँ, वह भीतर है। भीतर बाहरके द्विभेदपर हमारी बुद्धि अपना किला बाँधे बैठी है। वह हमें परस्पर-व्याप्त अभेद तो देखने ही नहीं देती और हमें भयके मार्गसे अपने उन इस या उस शत्रुसे बचने या बदला लेनेके नाना उपाय निरंतर सुझाती रहती है। पर ये सब शत्रुमुर्गके या शिकारीके उपाय हैं। वे सब मौतके निमंत्रणके उपाय हैं। शुद्ध बुद्धि व्यवसायात्मिका है और वह श्रद्धोपेत है। वह अभेदकी झाँकी देती है। वह विनीत बनाती है। वह जगत्के प्रति दृढ़ और परमात्माके प्रति व्यक्तिको कातर बनाती है। उससे व्यक्ति अटूट, अजेय और अमर बनता है। वह मरता है पर अमर होनेके लिए, क्योंकि मृत्युमें उसे संकोच नहीं होता। ऐसी बुद्धि अज्ञेयमेसे रस लेती है और उसीमें अपना समर्पण करके रहती है। वह इस भाँति क्रमशः प्रशस्त और मुक्त होती जाती है।



प्रश्नोत्तर

प्रश्न—निर्मोह और अबुद्धिवादका साथ कैसा ?

मोह यह हार्दिक विकार है। श्रद्धा भी हृदयका वैसा ही विकार है। अतः जहाँ आप निर्मोह चाहेंगे, वहाँ विवेक बुद्धि आयेगी ही। और तब उसके आते ही भोली भक्तकी भावना—जिसमें हृदय ही अधिक हो और बुद्धि कम—कैसे पाई जा सकती है ?

उत्तर—इस प्रश्नमें कुछ ग़लतफ़हमी है। पहले उसका दूर करना आवश्यक है।

अबुद्धिवाद शब्दको जो मैंने एक आध जगह प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि बुद्धिके मुकाबलेमें किसी अबुद्धिका वाद मैं चाहता हूँ। बुद्धिके मैं विरुद्ध नहीं। किन्तु बुद्धिवादवाली बुद्धि तो निरी अबुद्धि है। अर्थात्, बुद्धिवादका ही नामकरण मैंने अबुद्धिवाद किया है। जिससे मेरा अभिप्राय है कि—Rationalism is an irrationalism। वादको कंधेपर बिठाकर जो बुद्धि चलती है वह मेरी दृष्टिसे अबुद्धि है। इसलिए बुद्धिवादको ही मैं निरा अबुद्धिवाद कहता हूँ।

मेरे इन सफाईके शब्दोंके लिहाजसे आप देखेंगे कि ऊपरका प्रश्न फिर ठहरता ही नहीं।

मोह हार्दिक विकार है, लेकिन श्रद्धा वैसा एक विकार इस लिए नहीं है कि वह विवेक-विपरीत नहीं है। वह श्रद्धा तो विवेकका पूरक है। अतः श्रद्धा विकार नहीं, संस्कार है।

वेशक जहाँ निर्मोह है वहाँ विवेक-बुद्धि तो पहलेसे है ही। जिसको भक्तकी भोली भावना कहो, उस भावनाका भोलापन विवेक-बुद्धिके योगसे दहक कर स्फुलिंगके समान तेजस्वी हो जाता है। उसमें हृदय और बुद्धिके कम अधिक होनेका प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि उस श्रद्धामें वे दोनों पूरेके पूरे समाये रहते हैं।

होगे कि वे अविभाज्य रूपमें एक ही हैं ? और सच, वे बीचमें कटे हुए कहाँ हैं। इसीसे मैं कहता हूँ कि काल एक है।

और सोचिए, एक दिन भी क्या है ? $24 \times 60 \times 60$ सेकंडोंका जोड़ ही नहीं है ? लेकिन क्या सिर्फ जोड़ ही है ? क्या सब सेकंड अलग-अलग है और दिन उनका ढेर ? ऐसा नहीं है । दिनकी एक स्वतंत्र सत्ता है । सेकंड उसके $24 \times 60 \times 60$ वें खण्डकी कल्पना-संज्ञा मात्र है । इसी भाँति तीनों दिनोंकी भी एक अखण्ड सत्ता है, शनि रवि सोम तो उसी एकके तिहाई तिहाई कल्पित भागोंके नामकरण-मात्र है ।

ऊपरके कथनसे एक बात स्पष्ट होती है । वह यह कि तमाम गतिमें एक संगति है । जो तत्त्व आज और कलके बीच फासलेकी अपेक्षा गति है वही उन दोनोंमें मध्यवर्ती एकताकी अपेक्षा संगति है ।

अतीतका हमारे पास नहीं हिसाब, भविष्यका नहीं ज्ञान और वर्तमान तो छन छन रंग बदल ही रहा है । फिर भी, हम एक ही बार जान लें कि उन सबमें एक अखण्डता है, एक संगति है ।

भूत वर्तमानसे विच्छिन्न नहीं है और वह भूत भविष्यके भी विरुद्ध नहीं है । इन दोनोंमें परस्पर विरोध देखकर चलना ऐतिहासिक विवेकशीलता (= Historical Sense) के विरुद्ध है ।

पक्षोंके संतुलनके समय यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि अतीतके आधारपर वर्तमानको समझना ही जिस भाँति बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता है, उसी भाँति वर्तमानकी स्वीकृतिके आधारपर भविष्यकी निर्माण-धारणा बनाना वास्तविक शिल्प-कौशल है । प्रगति निर्माणमें है । प्रगति भूतके ऐसे अवगाहन और भविष्यके

प्रगति क्या ?

ऐसे आवाहनमे है जिनसे उनका वर्तमानके साथ ऐक्य पुष्ट हो । प्रगतिशील वह है जो निर्माता है और निर्माता वह है जिसके मनमें उस ऐक्यकी स्वीकृति है । कालके प्रवाहमें जो संगति नहीं देखता, जो उस प्रवाहके तलपर उठती हुई लहरोंके संघर्षमें खो जाता है, जो उस संघर्षको धारण करनेवाली अनवच्छिन्न एकताको नहीं देखता, वह किस भाँति निर्माता होगा ? निर्माता नहीं तो वह प्रगतिशील भी कहाँ हुआ ?

गति अनिवार्य है । उसके भीतर संगति अनिवार्य है । प्रगति संगतिके अनुकूल ही हो सकती है । उसमें प्रतिकूलता टिक नहीं सकती । जैसे बहती हुई धाराके वेगमेंसे उछलकर कुछ पानीके कण मौजसे किसी भी दिशामे उड़ते रह सकते हैं, वैसे ही इतिहासकी गणनामे न आनेवाली कुछ बूँदें बहक कर इधर उधर जा सकती है । पर, इतिहासकी धाराका प्रवाह तो एक और एक ही ओर है और वह 'ओर' स्वयं इतिहासमें-से स्पष्ट है । प्रगति उसी ओर सहयोगिनी होती है ।

गतिका शिकार होना प्रगति नहीं है । ठीक यही वस्तु है (गतिका यह शिकार होना) जो प्रगतिसे प्रतिकूल है । समयके गंभीर प्रवाहके ऊपर फैशनेबिल आधुनिकताओकी लहरें भी चलती हैं । आज उनका नाम यह वाद है तो कल वह वाद हो जाता है । किन्तु प्रगतिके शरीरपर वाद वैसे ही हो सकते हैं, जैसे मानव-शरीरपर लोम । पर जैसे उन लोमोंमें मानव नहीं है वैसे ही 'वादों' में प्रगति नहीं है । प्रगति कभी उन वादों तक सिहर कर, कभी उनके बावजूद और अधिकतर उनको सहती हुई चलती है ।

वादों (= 'इज़्म') के बारेमें वही बात याद रहे जो लेखके आरंभमें दाँयें और बाँयें रहनेवाले गिरोहोंके बावत कही गई है । एक इज़्म है, तो दूसरा भी है । दूसरा है, तो तीसरा भी है । इस भाँति वे उतने ही अनगिनत हो जायँ जितने कि आदमी, तो भी चैन हो । क्योंकि तब कोई इज़्मका शिकार न होगा, सब अपने अपने इज़्मोंके स्वामी होंगे । लेकिन जब तक यह नहीं होता तब तक 'इज़्म' के नामपर जितनी कट्टरताएँ हैं, सब मिथ्याभिमान हैं ।

प्रगतिमें वादकी कट्टरता बह जाती है, जैसे काँई बह जाती है ।

प्रगति भीतरसे आती है और बाहरको होती है । शुरूसे ही उसे अपनेसे बाहर टटोलना और साबित करना निरर्थक है । ऐसी चेष्टा इस बातका द्योतक है कि हमारे ही दिमाग़के भीतर जीवनका पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है ।

यहाँतक आकर हम एक प्रयोजनीय क्लास-रूमका-सा प्रश्न बनाकर अपनेसे पूछें कि आखिर इधर-उधरका यह सब तो हुआ, लेकिन, लेखक महोदय, हमको मालूम तो यह करना है कि प्रगतिके लिए हम क्या करें ?

तो मैं उस प्रयोजनार्थी विद्यार्थीसे कहूँगा कि भाई, अब तुम खुद मालूम कर लो कि प्रगतिके लिए क्या करो । तुम्हारे लिए जो काम प्रगतिका होगा, वह काम तुम्हारे सिवाय किसी भी दूसरेके लिए उस भाँति प्रगतिका नहीं हो सकेगा । तुम जो हो, और तुम जहाँ हो, वह न दूसरा है, न वहाँ दूसरा है । इससे हरेक अपना स्वधर्म देखे, अपनी विसात देखे, अपना जी देखे । तब अपना प्रगतिशील कर्तव्य पानेमें उसे अड़चन न होगी ।

हम परिमित प्राणी है । जान पड़ता है, इतिहासके भीतर भी हमी है । हमी वह है । आदिम मनुष्यने जो भोगा और जो किया, उसके बाद प्राग्-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक युगोंके दीर्घकालमें भी जो उसने भोगा, किया और पाया, उसकी वह तमाम अनुभूति, तमाम उपलब्धि, तमाम ज्ञान और उसकी वह समस्त साधना आज हमारे जीवनमें बजि-रूपसे व्याप्त है । उसीके फलस्वरूप हम आज है । नितान्त एकाकी स्वतन्त्र हम अपने-आपमें क्या हैं ?

इस दृष्टिसे चाहे हम परिमित हो, फिर भी अनन्त है । हम कालसे भी नहीं बँधे हैं और न प्रान्तसे ही । शत-सहस्र शताब्दियाँ हममें मुखरित होती हैं और हमारा दायित्व बड़ा है ।

क्या हम भावी बदल सकते हैं ? क्या हम अपने भी मालिक हैं ? क्या हम अपने-आपमें भाग्य-बद्ध भी नहीं हैं ? क्या हमको माध्यम बनाकर कुछ और महत्तत्त्व नहीं व्यक्त हो रहा है जो हमसे अतीत है ? हमारा समस्त यत्न अन्ततः किस मूल्यका हो सकता है ? अनन्तकाल और अगाध विस्तारके इस ब्रह्माण्डमें एक व्यक्तिकी क्या हैसियत है ?

ऊपरकी बात कही जा सकती है और उसका कोई खण्डन भी नहीं हो सकता । वह सत्य ही है । उस महा-सत्यके तले हमें विनीत ही बन जाना चाहिए । जब वह है, तब मैं कहाँ ? तब अहङ्कार कैसा ? जब हम (अपने आपके) सचमुच कुछ भी नहीं हैं, तब और किसको क्षुद्र माने ? नीच किसको माने ? तुच्छ किसको जानें ? हम उस महासत्यकी अनुभूतिके तले अपनेको शून्य ही मान रखनेका तो अभ्यास कर सकते हैं ।

और बस। अहङ्कारसे छुट्टी पानेसे आगे हम उस महा सत्ताके बहाने अपनेमे निराशा नहीं ला सकते, हम निराशामें प्रमाद-प्रस्त नहीं बन सकते, अनुत्तरदायी नहीं बन सकते, भाग्य-वादी नहीं बन सकते। यह भी एक प्रकारका अहंकार है। प्रमाद स्वार्थ है, उच्छृंखलता भी स्वार्थ है। हम जब देखने लगे कि हमारा अहङ्कार एक प्रकारसे हमारी जड़ता ही है, अज्ञान है, माया है, तब हम निराशामें भी पड़ सकनेके लिए खाली नहीं रहते। निराशा एक विलास है, वह एक व्यसन है, नशा है। नशीली चीज़ कड़वी होती है, फिर भी लोग उसका रस चूसते हैं। यही बात निराशामें है। निराशा सुखप्रद नहीं है। फिर भी लोग हैं जो उसके दुखकी चुस्की लेते रहनेमें कुछ सुखकी झोंकका अनुभव करते हैं।

जिसने इस महासत्यको पकड़ा कि मैं नहीं हूँ, मैं केवल अव्यक्तके व्यक्तीकरणके लिए हूँ, वह भाग्यके हाथमे अपनेको छोड़कर भी निरन्तर कर्मशील बनता है। वह इस बातको नहीं भूल सकता कि कर्म उसका स्वभाव है और समस्तका वह अङ्ग है। वह (साधारण अर्थोंमें) सुखकी खोज नहीं कर करता, सत्यकी खोज करता है। उसे वास्तवके साथ अभिन्नता चाहिए। इसी अभिन्नताकी साधनामे, इस अत्यन्त वास्तवके साथ एकता पानेके रास्तेमें जो कुछ भी विपत्ति उसपर आवे, जो ख़तरा, जो दुःख उसे उठाना पड़े, वह सब हर्षसे स्वीकार करता है। अपना सुख-दुख तो उसके लिए कुछ होता ही नहीं। इसलिए, उसका सुख समस्तताके साथ अविरোধी सुख होता है। इस जगत्में विलास दूसरेकी पीड़ापर परिपुष्ट होता हुआ देख पड़ता है। वैसा विलास-मय सुख निरहंकारी मानवके लिए अत्यन्त त्याज्य बनता है।

हमने देखा कि चीजें बदलती हैं; देखा कि वे प्राकृतिक विकास-क्रमके अनुसार बदलती हैं; देखा कि किसी व्यक्तिकी अथवा घटनाकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । और भी देखा कि किसी व्यक्तिके लिए अपने ही ऊपर केंद्रित होने और अपने ही लिए रहनेका अवकाश नहीं है । (अपने माने हुए) सुखसे चिपटने और दुखसे दूर भागनेकी छुट्टी भी व्यक्तिको नहीं है । विकास जब अपने आपको चरितार्थ कर रहा है तब व्यक्तिके लिए बीचमें अपने सुख-दुख पैदा कर लेना उचित नहीं है । जीवनकी स्वीकृति व्यक्तिका धर्म है, यों चाहे तो क्लेश उपस्थित करके वह अपनेको मार भी सकता है ।

यह हमने देखा । अब प्रश्न होता है कि व्यक्ति अपनेको संवेदनहीन बनानेकी कोशिश करे, क्या यही यथार्थ है ? अपनी इन्द्रियोंको क्या मार लेना होगा ? अपनी भावनाओंको तपस्याद्वारा कुचल ही देना होगा ? अपने भीतरकी सुन्दर और असुन्दर, प्राह्य और घृण्य, आनन्दकारी और ग्लानिजनक, 'सु' और 'कु', यह सब विवेक-भावना क्या व्यर्थ है ? अनादि-कालसे हमारे भीतर एक वस्तुको हर्षसे अपनाने और दूसरीको दृढ़तासे वर्जित रखनेकी जो अंतस्थ सहज बुद्धि है, वह क्या व्यर्थ है ? क्या सबसे मुँह मोड़कर काय-क्लेशमे 'स्टॉइक रेजिग्रेशन' (Stoic resignation) में बन्द हो जाना होगा ? क्या संवेदनहीन, प्रभावहीन बननेकी ही साधना व्यक्तिके लिए सिद्धि होगी ?

और ऐसा हुआ है । लोगोंने अपनेको कुचलनेमें सिद्धि मानी है । उन्होंने अपनेसे इनकार किया है, दुनियासे इनकार किया है

और एक प्रकारसे 'न'कारकी साधना की है। उन्होंने 'मै' अपनेको कुचल देगा ' ऐसा संकल्प ठानकर कुचलनेपर इतना जोर दिया है कि वे भूल गये हैं कि इसमें 'मैं' पर भी आवश्यक रूपमें जोर पड़ता है। 'मै' कुचलकर ही रहूँगा, यह ठान ठानकर जो कुचलनेमें जोर लगाता है, उसका वह जोर असलमें 'अहं' के सिंचनमें जाता और वहींसे आता है। इस प्रकार, तपस्याद्वारा अपनेको कुचलनेमें आग्रही होकर भी उल्टे अपने सूक्ष्म अहंको अर्थात् 'मै' को, सींचा और पोषा जाता है। जो साधना दुनियासे मुँह मोड़कर उस दुनियाकी उपेक्षा और विमुखतापर अवलंबित है वह अन्तमें मूलतः अहं-सेवनका ही एक रूप है।

जो विराट्, जो महामहिम, सब घटनाओंमें घटित हो रहा है, उसकी ओरसे विमुखता धारण करनेसे आत्मैक्य नहीं प्राप्त होगा। चीजें बदल रही हैं और उनकी ओरसे निस्संवेदन, उनकी ओरसे नितान्त तटस्थ, नितान्त असंलग्न और अप्रभावित रहनेकी साधना आरम्भसे ही निष्फल है। व्यक्ति अपने आपमें पूर्ण नहीं है, तब सम्पूर्णका प्रभाव उसपर क्यों न होगा ? प्रभाव न होने देनेका हठ रखना अपनेको अपूर्ण रखनेका हठ करने-जैसा है, जो कि असंभव है। आदमी अपूर्ण रहनेके लिए नहीं है, उसे पूर्णताकी ओर बढ़ते ही रहना है।

इसलिए जगद्गतिसे उपेक्षा-शील नहीं हुआ जा सकेगा। उससे अप्रभावित भी नहीं हुआ जा सकेगा। यह तो पहले देख चुके कि अपनेको स्वीकार करके उस जगद्गतिसे इनकार नहीं किया जा सकता। इसी भाँति यह भी स्पष्ट हुआ कि उधरसे निगाह हटाकर

केवल अपने ऊपर उसे केन्द्रित करके स्वयं अप्रभावित बने रहनेमें भी सिद्धि नहीं है ।

तब यही मार्ग है (लाचारीका नहीं, मोक्षका) कि हम घटनाओंको केवल स्वीकार ही न करें, प्रत्युत उन्हें स्वयं घटित करें । क्या वास्तवके साथ ऐक्य पाना ही हमारा लक्ष्य और वही हमारी सिद्धि नहीं है ? वह वास्तव ही घटनाओंमें घटित बनकर व्यक्त हो रहा है । तब हमारा अपना व्यक्तीकरण भी इन घटनाओंमें ही होगा । हम कर्म करेंगे, यह जानकर नहीं कि वैसा किये बिना गुजारा नहीं; यह मानकर भी नहीं कि वैसा हमें करना चाहिए; बल्कि यह अनुभव करते हुए कर्म करेंगे कि हम उसके स्रष्टा हैं । परिवर्तनको स्वीकार भर करनेके लिए हम नहीं हैं । उन परिवर्तनोंको संपन्न करनेके लिए भी हम हैं । विकास हो और वह विकास हमें अपने हाथमें लेकर विकसित कर जाय, इसकी प्रतीक्षा करते नहीं बैठना होगा । हम स्वयं विकासमें प्रबुद्ध होंगे और उसे सिद्ध करेंगे । हम स्रष्टाकी प्रकृतिके समभागी हैं । हम केवल उपादान, उपकरण ही तो नहीं हैं । हम कर्ता भी हैं । चीजें बदलती हैं, वे सदा बदलती रही हैं, यहाँतक ही मनुष्यका सत्य नहीं है । मनुष्यका सत्य यह भी है कि हम चीजोंको बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे । मनुष्य परिवर्तनीय है, इसीलिए तो कि वह परिवर्तनकारी है । मनुष्य विकासशील है, क्योंकि वह विकासशाली है । वह कर्मवेष्टित क्यों है ? क्योंकि वह कर्मका स्रष्टा भी है ।



सत्य, शिव, सुंदर

‘सत्यं शिवं सुंदरं’—यह पद आजकल बहुत लिखा-पढ़ा जाता है। ठीक मालूम नहीं, कौन इसके जनक है। जिनकी वाणीमें यह स्फुरित हुआ वह ऋषि ही होंगे। उनकी अखंड साधनाके फल-स्वरूप ही, भावोत्कर्षकी अवस्थामें, यह पद उनकी गिरासे उद्गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालांतरमें सस्ता नहीं पड़ जाता ? यही हाल ऋषि-वाक्योंका होता है।

किंतु महत्त्वको व्यक्त करनेवाले पदोंको सस्ते ढँगसे नहीं लेना चाहिए। ऐसा करनेसे अहित होगा। आगको जेबमें रखे फिरनेमें खैर नहीं है। या तो जो जेबमें रख ली जाती है वह आग ही नहीं है, या फिर उसमें कुछ भी चिनगारी है तो वह जेबमें नहीं ठहरेगी। सबको जलाकर वह चिनगारी ही प्रोज्ज्वल बनी दमक उठेगी।

‘सत्यं शिवं सुंदरं’ पदका प्रचलन घिसे पैसेकी नाई किया जा रहा है। कुछ नहीं है, तो इस पदको ले बढ़ो। यह अनुचित है। यह असत्य है। अनीतिमूलक है। शब्द कीमती चीज़ है। आरंभमें वे मानवको बड़ी वेदनाकी कीमतमें प्राप्त हुए। एक नये शब्दको बनानेमें जाने मानव-हृदयको कितनी तकलीफ़ भेलनी पड़ी होगी। उसी बहुमूल्य पदार्थको एक परिश्रमी पिताके उड़ाऊ लड़केकी भाँति जहाँ तहाँ असावधानीसे फेंकते चलना ठीक नहीं है। अकृतज्ञ ही ऐसा कर सकता है।

‘ सत्यं शिवं सुंदरं ’ पदसे हम क्या पाएँ, क्या लें, यह समझनेका प्रयास करना चाहिए। उस शब्दकी मारफ़्त, यदि हम कुछ नहीं लेते हैं और हमारे पास देनेको भी कुछ नहीं है तो उस पदके प्रयोगसे आसानसि बचा जा सकता है। ऐसी अवस्थामें बचना ही लाभकारी है।

महावाक्योमे गुण होता है कि वे कभी अर्थसे ख़ाली नहीं होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थको खींच निकालकर उन शब्दोको खोखला नहीं बना सकता। उन वाक्योंमें आत्मानुभवकी अटूट पूँजी भरी रहती है। जितना चाहो उतना उनसे लिये जाओ फिर भी मानों अर्थ उनमें लबालब भरा ही रहता है। असलमें वहाँ अर्थ उतना नहीं जितना भाव होता है। वह भाव वहाँ इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आदि-स्रोतसे संबंध है। इसीलिए ऐसे वाक्योंमें जब कि यह खूबी है कि वे पंडितके लिए भी दुष्प्राप्य हो तब उनमें यह भी खूबी होती है कि वे अपंडितके लिए भी, अपने बित-मुताबिक, सुलभ होते हैं।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदोंका सार, अपने सामर्थ्य जितना ही हम पा सकते, दे सकते हैं। यहाँ जो ‘ सत्यं शिवं सुंदरं ’ इस पदके विवेचनका प्रयास है उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धिके परिमाणका घोटक मानना चाहिए।

सत्य, शिव, सुंदर ये तीनों एक वजनके शब्द नहीं हैं। उनमें क्रम है और अंतर है।

सत्य-तत्त्वका उस शब्दसे कोई स्वरूप सामने नहीं आता। सत्य, सत्य है। कह दो सत्य ईश्वर है। वह एक ही बात हुई। पर वह

कुछ भी और नहीं है। वह निर्गुण है। वह सर्वरूप है, संज्ञा भी है, भाव भी है।

सत्का भाव सत्य है। जो है वह सत्यके कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टिसे असत्य कुछ है ही नहीं। वह निरी मानव-कल्पना है। असत्, यानी जो नहीं है। जो नहीं है उसके लिए यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। इसलिए 'असत्य' शब्दमें निरा मनुष्यका आग्रह ही है, उसमें अर्थ कुछ नहीं है। आदमीने काम चलानेके लिए वह शब्द खड़ा कर लिया है। यह कोरी अयथार्थता है।

इसी तरह 'सत्यता' शब्द भी यथार्थ नहीं है। वह शब्द चल पड़ा तो है पर केवल इस बातको सिद्ध करता है कि मानव-भाषा अपूर्ण है।

जो है वह सत्। जो उसको धारण कर रहा है वह सत्य।

अब 'शिव' और 'सुंदर' शब्दोंकी स्थिति ऐसी नहीं है। शिव गुण है, सुंदर रूप है। ये दोनों सम्पूर्णतया मानवात्माद्वारा ग्राह्य तत्त्व है। ये रूपगुणातीत नहीं है, रूपगुणात्मक है। ये यदि संज्ञा है तो उनके भाव जुदा है,—शिवका शिव-ता और सुंदरका सुंदर-ता। और जब वे स्वयंमें भाव है तब उन्हें किसी अन्य तत्त्वकी अपेक्षा है—जैसे 'यह शिव है', 'वह सुंदर' है। 'यह' या 'वह' उनके होनेके लिए जरूरी है। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

ऊपरकी बात शायद कुछ कठिन हो गई। मतलब यह कि सत्य निर्गुण है। शिव और सुंदर उसीका ध्येय रूप है। सत्य ध्येयसे भी परे है। वह अमूर्तीक है। शिव और सुंदर उसका मूर्तीक स्वरूप है।

निर्गुण, निराकार, अंतिम सचाईका नाम है सत्य। वही तत्त्व

मानवकी उपासनामें सगुण, साकार, स्वरूपवान् बनकर शिव और सुंदर हो जाता है ।

सत्यकी अपेक्षा शिव और सुंदर साधना-पथ हैं, साध्य नहीं । वे प्रतीक है, प्रतिमा हैं । स्वयं आराध्य नहीं हैं, आराध्यको मूर्तिमान् करते हैं ।

शिव और सुंदरकी पूजा यदि अज्ञेय सत्यके प्रति आस्था उदित नहीं करती, तो वह अपने आपमें अहं-पूजा है । वह पत्थर-पूजा है । वह मूर्तिपूजा सच्ची भी नहीं है ।

सच्ची मूर्तिपूजा वह है जहाँ पूजकके निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस मूर्तिकी सच्चाई मूर्तिसे अतीत भी हो ।

इस निगाहसे शिव और सुंदर मंजिलें हैं, मकसूद नहीं हैं । इष्ट-साधन है, इष्ट नहीं है । इष्ट भी कह लो, क्यों कि इष्ट देवकी राहमें है । पर यदि राहमें नहीं हैं तो वे अनिष्ट है ।

लेकिन यहाँ हम कहीं गड़बड़में पड़ गये मालूम होते हैं । जो सुंदर है वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है ? और शिव तो शिव है ही । वह अनिष्ट हो जाय तो शिव ही क्या रहा ?

बात ठीक है । लेकिन शिवका शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धिपर स्थगित है । सुन्दरका सौन्दर्य-निरूपण भी मानव-भावनाके ताबे है । मानव-बुद्धि अनेक रूप है । वह देश-कालमें बँधी है । इसलिए ये दोनों (शिव, सुंदर) अनिष्ट भी होते देखे जाते हैं । इतिहासमें ऐसा हुआ है । अब भी ऐसा हो रहा है ।

सत्य स्वयं-भू है, एक है, उसे आलंबनकी आवश्यकता नहीं है । सब विरोध उसमें लय हो जाता है । उसके भीतर द्वित्वके लिए स्थान नहीं है । वहाँ सब 'न'कार स्वीकार्य है ।

शिव और सुंदरको आलंबनकी अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव संभव है। अशिवको पराजित करनेवाला शिव। यही बात सुंदरके साथ है। असुंदर यदि हो ही नहीं तो सुंदर निरर्थक हो जाता है। दोनों बिना द्वित्वके संभव नहीं है।

संदेहमें हम यों कहे कि सत्य अनिर्वचनीय है। उसपर कोई चर्चा-आख्यान नहीं चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्रकी अंतरात्मा है।

और जिनपर बातचीत चलती और चल सकती है, वे हैं शिव और सुंदर। हमारी प्रवृत्तियोंके व्यक्तिगत लक्ष्य ये ही दो हैं—शिव और सुंदर।

सत्य अनंत है, अकल्पनीय है। अतः हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते हैं, वह सब एकांगी सत्य है। दूसरी दृष्टिसे वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं है।

इस स्वीकृतिमेंसे व्यक्तिको एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो, प्रेम। उसीको फिर अहिंसा भी कहो, विनम्रता भी कहो।

यदि मूलमे यह प्रेमकी प्रेरणा नहीं है तो शिव और सुंदरकी समस्त आराधना भ्रान्त है। सुंदर और शिवकी प्राप्तिके अर्थ यात्रा करनेकी पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्ममें दाक्षित हो ले।

प्रेम कसौटी है। सुंदर और शिवके प्रत्येक साधकको पहले उसपर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा वह खरा है। जो खोटा निकलेगा, वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्तिको इस शर्तको पूरा करना होगा। जो करती

है, वह विधेय है; जो नहीं करती, वह निषिद्ध है। सुंदरके नामपर अथवा शिवके नामपर जो प्रवृत्ति प्रेम-विमुख वर्तन करेगी वह मिथ्या होगी। दूसरे शब्दोंमें वह अशिव होगी, असुंदर होगी,—चाहे तात्कालिक 'शिव'—वादी और 'सुंदर'—वादी कितना भी इससे इनकार करे।

असलमें मानवकी मूल वृत्तियाँ मुख्यतः दो दिशाओंमें चलती हैं— एक वर्तमानके हृदयकी ओर, दूसरी भविष्यके आवाहनकी ओर। एक ऐहिक, दूसरी पारलौकिक। एकमें आनंदकी चाह है, दूसरीमें मंगलकी खोज है। एकका काम्य देव सुंदर है, दूसरीका आराध्य देव शिव है।

यम-नियम, नीति-धर्म, योग-शोध, तपस्या-साधना, इनके मूलमें शिवकी खोज है। इनकी आँख भविष्यपर है।

साहित्य-संगीत, मनीषा-मेधा, कला-क्रीड़ा,—इनमें सुंदरके दर्शनकी प्यास है। इनमें वर्तमानको थाह तक पा लेनेकी स्पर्धा है।

आरंभसे दोनों प्रवृत्तियोंमें किंचित् विरोध-भाव दीखता आया है। शिवके ध्यानमें तात्कालिक सौन्दर्यको हेय समझा गया है। यही क्यों, उसे बाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीयको हाथसे छोड़कर मंगल-साधनाकी वहकमें पड़ना निरी मूर्खता और विडंबना समझी गई है। तपस्याने क्रीड़ाको गर्हित बताया है और उसी दृढ़ निश्चयके साथ लीलाने तपस्याको मनहूस करार दिया है। दोनों एक दूसरीको चुनौती देती और जीतती-हारती रही हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुंदरमें सत्यकी अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। दोनों सत्यके दो पहलू हैं। दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। पर अपने अपने-आपमें सिमटते ही दोनोंमें अनबन हो रही

है। और इस तरह भी, वे दोनों एक प्रकारसे परस्पर सहायक होते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरेके लिए अंकुश (= Check) रखते हैं।

मनुष्य और मनुष्य-समाजके मंगल-पक्षको प्रधानता देनेवाले नीति-नियम जब तब इतने निर्मम हो गये हैं कि जीवन उनसे संयत होनेके बजाय कुचला जाने लगा है। तब इतिहासके नाना कालोमें, प्रत्युत प्रत्येक कालमें, जीवनके आनंद-पक्षने विद्रोह किया है और वह उभर पड़ा है। इधर जब इस भोगानंद-पक्षकी अतिशयता हो गई है तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-कानून फिर उभरे और जीवनके उच्छृंखल अपव्ययको रोक कर संयत कर दें।

इस कथनको पुष्ट करनेके लिए यहाँ इतिहासमेंसे प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। सब देशों, सब कालोंका इतिहास ऐसे उदाहरणोंसे भरा पड़ा है। स्वयं व्यक्तिके जीवनमें इस तथ्यको प्रमाणित करनेवाले अनेकानेक घटना-संयोग मिल जायेंगे। फिर भी, वे प्रमाण प्रचुर परिमाणमें किसीको स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, साहित्य-संगीत, मठ-मंदिर, दर्शन-संस्कृति और इधर समाज-नीति और राज-नीतिके क्रमिक विकासके अध्ययनमें जगह जगह प्राप्त होंगे।

व्यक्तित्वके निर्माणमें प्रवृत्तिका और निवृत्तिका समान भाग है। जहाँ शिव प्रधान है—वहाँ निवृत्ति प्रमुख हो जाती है। वहाँ वर्तमानको थोड़ा-बहुत कीमतमें स्वाहा करके भविष्य बनाया जाता है। जहाँ सुंदर लक्ष्य है वहाँ प्रवृत्ति मुख्य और निवृत्ति गौण हो जाती है। वहाँ भविष्यपर बेफिक्रीकी चादर डालकर वर्तमानके रसको छककर लिया जाता है। वहाँ ज्ञान लक्ष्य नहीं है, प्राप्ति भी लक्ष्य नहीं है, मग्नता

और विस्मृति लक्ष्य हैं। वहाँ सुखकी सँभाल नहीं है, काम्यमें सब कामनाओं समेत अपनेको खो देनेकी चाह है। पहली साधना है, दूसरा समर्पण है।

आरंभमें जो संकेतमें कहा वही यहाँ स्पष्ट कहें कि आनन्द-हीन साधना उतनी ही निरर्थक है जितना साधना-हीन आनन्द निष्फल है। वह सुंदर कैसा जो शिव भी नहीं है, और शिव तो सुंदर है ही।

इस दृष्टिसे मुझे प्रतीत होता है कि सुंदरको फिर शिव-ताका ध्यान रखना होगा और शिवको सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है तो वह सुंदर तो है ही।

अर्थात्, जीवनमें सौंदर्योन्मुख भावनाओंका नैतिक (= शिवमय) वृत्तियोंके विरुद्ध होकर तनिक भी चलनेका अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओंको खिन्नाती हुई, उन्हें कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुंदरकी लालसामें लहकना चाहती हैं वे कहीं न कहीं विकृत है। सुंदर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती है वह 'सुंदर' नहीं है। केवल छद्माभास है, सुंदरकी मृगतृष्णिका है।

सामान्य बुद्धिकी अपेक्षासे यह समझा जा सकता है कि शिवको तो हक है कि वह मनोरम न दीखे, पर सुंदरको तो मंगल-साधक होना ही चाहिए। जीवनका संयम-पक्ष किसी तरह भी जीवनानंदके मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनंद विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाजकी अपेक्षामें देखें तो क्या दीखता है? स्वभावतः वे लोग जिनका जीवन रंगीन है और रंगीनीका लोलुप है, जिनके जीवनका प्रधान तत्त्व आनंद और उपभोग है, जो स्वयं

पद्धतिक। आविष्कार किया। जब यह हो गया, तब वह धीमे-धीमे भाषाका महत्त्व भूलने लगा। जो आत्म-दानका साधन था, वह आत्म-वंचनाका वाहन बना। व्यक्ति उसमें भावनासे अधिक अपना अहंकार गुंजारने लगा। जहाँ यह है, वहीं भाषाका व्यभिचार है। वैसा लिखना केवल लिखना है, वह साहित्य नहीं है।

जो हमारे भीतरकी अथवा किसीके भीतरकी रुद्ध वेदनाको, पिंजरबद्ध भावनाओंको, रूप देकर आकाशके प्रकाशमें मुक्त नहीं करता है, जिसमें अपने स्वका सेवन है और दान नहीं है, वह भी साहित्य नहीं है।

साहित्यका लक्षण रस है, रस प्रेम है। प्रेम अहंकारका उत्सर्ग है। इससे साहित्यका लक्षण ही उत्सर्ग है।

प्रश्न—लेकिन स्थायी साहित्य कौन-सा ? उच्च साहित्य कौन-सा ?

उत्तर—स्थायी साहित्य वह, जिसमें मानवकी अधिक स्थायी वृत्तियोंका समर्पण हो। जिसमें जितना ही रूपका दान है, शरीर-सौन्दर्यका दान है, उसका आनंद उतना ही अल्पस्थायी है। ऐन्द्रियिकताकी अपीलवाला साहित्य क्षणस्थायी है।

हृदयका उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व-स्वका उत्सर्ग। जहाँ अपने प्रियको पानेकी कामनाका भी उत्सर्ग है, जहाँ सर्वस्व-समर्पण है, वहाँ सर्वाधिक स्थायी तत्त्व है। उसी तत्त्वके मापसे हम लोग मरण-शील अथवा अमर इन सज्ञाओंसे साहित्यका, विवेक किया करते हैं।

इसी प्रकार जहाँ हमारे जितने ऊँचे अंशका उत्सर्ग है, वहाँ साहित्यमें उतनी ही उच्चता है।

प्रश्न—क्या साहित्य समयानुसार बदलता रहता है ?

उत्तर—साहित्यका रूप तो समयानुसार बदलेगा ही, पर उसकी आत्मा वही एक और चिरंतन है। मानवीय सब कुछ बदलता है। पर मरणशील मानवोंके बीचमें एक अमर सत्य भी है। क्षण-क्षणमें जैसे एक निरन्तरता है वैसे ही खण्ड-खण्डमें एक अखण्डता है। उसी निरंतरताकी अभिव्यक्ति क्षणोंमें होती है। क्षण स्वयं तो क्षणजीवी ही हैं, पर वे क्षणातीतको भी धारण कर रहे हैं। यही बात साहित्यके मामलेमें भी समझना चाहिए। उसका सब कुछ बदलेगा, वह हर घड़ी बदल रहा है; पर उसका तत्त्व अपरिवर्तनीय है।

प्रश्न—यहाँ आपका रूपसे क्या मतलब है ? क्या रूपका मतलब साहित्यके बाह्य कलेवरसे है ?

उत्तर—हाँ, रूपसे मेरा वही भावार्थ है। उसमें भाषा, शैली, मुहावरे, व्यंजनाके और साधन, सब आ जाते हैं। इधर एक नई चीज़ पैदा की जा रही है, जिसको कहते हैं 'टेकनीक'। वह आत्मासे तोड़कर साहित्यको नियमित शास्त्रका रूप देना चाहती है। उसको भी मैं साहित्यके परिवर्तनीय रूपोंमें गिनता हूँ।

प्रश्न—साहित्यका तो शायद आत्मासे सम्बन्ध है और रहना ही चाहिए; फिर यह 'टेकनीक'का साहित्यसे आत्माको अलग करना ठीक है?

उत्तर—इसको समझनेके लिए आप अपनेको लीजिए। आपका आत्मासे संबंध है या नहीं? और आप शरीरमें भी हैं या नहीं? अब अगर मैं यह कहूँ कि जितने अधिक आप आत्मा हैं और जितने अधिक उस आत्माके अविरुद्ध आपका शरीर है उतने ही अधिक आप महान् हैं—तो क्या ऐसा कहनेमें कुछ अय्यार्य होगा? इस जगतमें कुछ प्राणी हैं जो सिरके बालोंको तरह-तरहके लच्छोंमें काढते हैं; अंगोपांगोंको प्रकार-प्रकारसे सुसजित रखते हैं और शरीरको आभूषित रखनेमें पर्याप्त चिन्ता व्यय करते हैं। उस शरीर-सज्जाका योग लगभग आत्मासे होता ही नहीं। मैं उसको क्या कहूँ? क्या मैं यह न कहूँ कि उस साज-सज्जामें जीवनकी शुद्ध कला अभिव्यक्त नहीं होती। वहाँ जो है वह कुछ नकली-सा है। साहित्यमें भी ऐसा हो सकता और हुआ करता है। मूल भावके प्रति अपेक्षाकृत उदासीन होकर हम उसके अंगोपांगोंकी परिसज्जामें छुभा पड़ेंगे तो हम साहित्यके नामपर ठेठ असाहित्यिक हो चलेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। देखिए न आज, नायिका-भेदकी चर्चामें कहीं तक औचित्य रह गया है? वह क्या व्यसनकी हदतक नहीं पहुँच गई थी?

साहित्यको एक शास्त्र अथवा एक विद्या बनाना इस खतरेसे खाली नहीं है। आजकल स्पेसलाइजेशनकी (विशेषीकरणकी) प्रवृत्ति बहुत है। हर-बातका एक अलग शास्त्र है। इससे फायदा तो होता है। आविष्कारोंकी सूझ इसी पद्धतिसे हाथ आती है। लेकिन जब कि पदार्थ-ज्ञानको इस तरह भेद-विभेदोंमें विभक्त करके देखनेमें कुछ लाम भी है, तब यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वास्तव जीवनमें वैसे खण्ड हैं नहीं। जीवन एक समूचा तत्त्व है। साहित्यके हर विभागमें साहित्यकता उतने ही अंशमें है, जहाँतक कि उसमें जीवन-स्पर्दन है।

मानसिक संकीर्णताका विष फैलानेवाली पुस्तकोंका प्रचार ही मैं निषिद्ध ठहरा दूँ।
उनसे समाजका बड़ा अकल्याण होता है।

प्रश्न—मुगल-कालमें राजपूतोंको उत्साह दिलानेके लिए उस समयके कवियोंने जो साहित्य रचा—वह भी क्या आपकी ऊपर कही गई व्याख्यामें आ जाता है?

उत्तर—इस प्रश्नमें एक भूल मालूम होती है। उपयोगिताकी दृष्टिसे आपके लिए उपयोगी वस्तु वही हो सकती है, जो कल या परसों अनुपयोगी हो जाय। जिसमें अनुपयोगी होनेका सामर्थ्य नहीं वह वस्तु उपयोगी ही नहीं। जिसने शूरता और बलिदानका ओज-दान किया वह साहित्य निर्जीव नहीं रहा होगा। उसकी सजीवता असदिग्ध है। किन्तु यदि उसके साथ यह भी मिलता हो कि यवनको मारो और आज उस 'यवन' शब्दकी ध्वनिमें एक विशिष्ट जातिका बोध समाविष्ट रहता है तो कहना होगा कि वह अश गलत है। आज वह ओज-संचारी भी नहीं हो सकता। अमुकको विरोधमें रखकर यदि हम अपने भीतर शक्ति पाते हैं, तो वह शक्ति नहीं है, वैर है। साहित्य प्रेमोत्सर्गकी शक्ति देता है। द्वेष और घृणाकी शक्ति देनेवाला उतने ही अंशमें असाहित्य है। तबकी परिस्थितियोंमें विशिष्ट रूपसे उपयोगी पढ़नेवाले साहित्यका हक है कि वह आजके लिए अनुपयोगी हो जाय। उस ज़मानेका बहुत-सा साहित्य हमारे बढते हुए जीवनका अब भी साथ नहीं दे पा रहा है और छूटता जा रहा है।

प्रश्न—तो क्या आपका मतलब यह है कि उस समयके साहित्यको निकाल दिया जाय? यदि यही मतलब हो तो भूषणादि कवियोंकी बहुत-सी कविताएँ निकल जायँगी।

उत्तर—यह मतलब तो कैसे हो सकता है कि एक झाड़ूसे सबको साफ दिया जाय। हाँ, यह तो ठीक ही है कि पुराना सब कुछ जीवनकी गतिके साथ निभ नहीं सकता। निकाल देनेकी बात तो शासन-प्राप्त लोग करें। मैं तो यही कहने योग्य हूँ कि जो लेने और पाने योग्य है उसको लेने और पानेमें, जो छूटने योग्य है वह स्वयंमेव छूट जायगा। आज अगर हिन्दीमें भी भूषणसे अधिक रवीन्द्र पढ़े जाते हैं तो क्या मैं इसको भूषणका अपमान समझूँ? दिन आ सकता है कि रवीन्द्र भी एक दिन न पढ़े जायें। लेकिन इन बातोंमें मानापमानका प्रश्न ही कहाँसे उठता है? यदि आज, आज ही रातके बारह बजे खत्म हो जायगा, कलके दिन विल्कुल शेष न रहेगा, तो क्या किसी

साहित्य-सेवीका अहंभाव

प्रकार भी यह इस आजके 'आज' की अवगणना है ! ऐसा नहीं है । 'आज' का तो अर्थ ही यह है कि वह कल न रहेगा और यह उस 'आज' को भी मालूम होना चाहिए । उसके पक्षमें यह दावा पेश करना कि नहीं, इस आजके 'आज' को हम तो सनातन तत्त्वकी भौति सदा कायम रखेंगे—यह दावा पहलेसे ही अपने आपमें हारा हुआ है । भूषण आदिके ग्रंथ मैंने समीक्षा-बुद्धिपूर्वक नहीं देखे हैं । वस्तुतः देखे ही नहीं हैं । बस जहाँ-तहाँ कुछ देखा है । उनके किस अंशको रखकर किस अंशको अपने साथसे छूटने देना है, यह तो किसी हिन्दीके शाता विद्वानसे पूछनेकी बात है ।

प्रश्न—तो आप शायद शिवा-बावनीको उड़ा देनेके पक्षमें हैं ?

उत्तर—मैंने कहा न, इस बारेमें कुछ कहनेका मैं अधिकारी नहीं हूँ । मोह-पूर्वक न मुझे कुछ रखना है न निकालना है । इस प्रश्नका निर्णय निमोही चृत्तिसे जो हो कर लेना चाहिए ।

साहित्य-सेवीका अहंभाव

प्रश्न—हम साहित्य-सेवी कैसे बन सकते हैं ?

उत्तर—अच्छी बातोंके सोचने और फिर उन अच्छी बातोंके लिखनेसे । अपनेको औरोंमें खोने और दूसरोंको अपनेमें पानेसे । प्रेमकी साधनासे और अहंकारके नाशसे ।

प्रश्न—लेकिन साहित्यकोंमें तो अहंभाव कुछ विशेष ही पाया जाता है !

उत्तर—यह तो मैं मान लूँगा कि लेख आदि लिखनेवालोंमें अहंभाव हुआ करता है । उसकी पहली वजह यह है कि वे अपनेको पाना चाहते हैं । वे दुनियाके प्रार्थी होकर नहीं जीना चाहते, खुद होकर जीना चाहते हैं । जो बनी हुई मान्यतायें हैं, वे ही उनको मान्य नहीं होती । वे उन्हें स्वयं बनाने-का कष्ट उठाना चाहते हैं । जबतक उनकी वे मान्यतायें बनती रहती हैं, तबतक लगभग आवश्यक ही है कि वे न झुकनेकी चिन्ता रखें । जो सत्य पा लिया गया है, उतनेहीसे उनकी पूर्ति नहीं होती अथवा कहो वे अपनी निजकी साधनाद्वारा भी उसे अपने दिलके भीतर पाना चाहते हैं । वे

जब मैं कलह-वृत्तिका समूल नाश संभव मानता हूँ तब हूँ, एक चीज़का नाश नहीं है। वह चीज़ है युद्ध। युद्धको असंभव बना दे, तो जीवन भी असंभव ठहरता है। हम सॉस लेते हैं, तो इसमें भी संघर्ष, इसमें भी हिंसा है। लेकिन इससे पहली बात खंडित नहीं होती। वह इसलिए कि जीवन अल-बत्तह युद्ध-क्षेत्र है। लेकिन समूच युद्ध-क्षेत्रको धर्म-क्षेत्र बनाया जा सकता है। मनुष्यताका त्राण इसीमें है। अर्थात् युद्ध किया जाय किन्तु धर्म-भावसे।

कर्मके क्षेत्रमें कलह-हीन वृत्ति असंभव नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ। और चूँकि ऐसा मैं मानता हूँ इससे शान्ति-प्रस्थापनके सतत प्रयत्नोकी अचूक निष्फलतासे भी मुझे निराश नहीं हो जाना होगा।

प्रश्न—यह तो माना कि काम और अर्थ (=Sex and Money) को आजके जमानेने जरूरतसे ज्यादा महत्त्व दिया है; पर क्या आप कोई व्यावहारिक (=Practical) तरीके सुझा सकते हैं जिनसे उनका महत्त्व घट सके ?

उत्तर—जिसको पूरे अर्थोंमें व्यावहारिक (=Practical) कहें शायद ऐसा कोई तरीका इस वक्त मैं नहीं सुझा सकता। प्रैक्टिकल शब्दमें ध्वनि आती है कि उपाय संगठित हो, साधक हो। उस प्रकारके संघ या संगठनकी योजना पेश करनेके लिए मेरे पास नहीं है। इस प्रकारका संकल्प (=Will) उत्पन्न हो जाय तो उस आधारपर संगठन भी अवश्य हो चलेगा। मेरा काम इस संकल्पको जगानेमें सहायक होनेका ही है। संकल्प जगा कि मार्ग भी मिला रखता है। The Will Shall have its way.

जैसे पहले कहा, यहाँ भी अमोघ उपाय यह है कि व्यक्ति अपनेसे आरंभ करे। मैं मानता हूँ कि अब भी मानवीय व्यापारोको हम मूलतः देखे तो उनका आधार काम और अर्थमें नहीं, किसी और ही अन्तस्थ वृत्तिमें मिलेगा। उदाहरणार्थ परिवारको ही देखिए। परिवार समाजकी इकाई है, शासन-विधान (=State) की मूल पीठिका है। परिवारमें सब लोग क्या काम और अर्थके प्रयोजनको लेकर परस्पर इकट्ठे मिले रहते हैं ? माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहिन आदि नातोंके बीचमें इस कामार्थ-रूप प्रयोजनको मुख्य वस्तु मानना परिवारकी पवित्रताको खींचकर नरकमें ला पटकनेके समान होगा। मैं कहता हूँ कि वह कामार्थी प्रयोजनका नाता दोको एक नहीं कर सकता। अधिकसे अधिक वह दोको समझौतेके भावसे कुछ समयतक पास-पास रख सकता है। किंतु आपसमें

विविध प्रश्नोंका समाधान

ऐक्य साधे बिना जगतका त्राण नहीं । इससे कामार्थमयी इच्छाओसे ऊँचे उठे बिना काम न चलेगा ।

अत उपाय यह बना कि हम व्यक्तिशः अपने वैयक्तिक जीवनमें इस प्रकारकी संकीर्ण वृत्तियोंको लेकर आगे न बढे । इन वृत्तियोंका सहसा लोप तो न होगा; लेकिन इतना हो सकता है कि उन वृत्तियोंको लेकर हम सार्वजनिक विश्वोभ पैदा न करे । अर्थात्, जब हम क्रोध लोभके वशीभूत हो, तो मानो अपने भीतर सकुचकर अपने कमरेमें अपनेको मूँद ले । अपनेसे बाहर जब हम आवें तब प्रेम-पूर्वक ही वर्त्तन करे ।

दूसरे शब्दोंमें इसका यह अर्थ होता है कि यो तो हम पूरी तरह निःस्वार्थ नहीं हो सकते, पर स्वार्थको लेकर हम सीमित रहें और सेवा-भावनाको लेकर समाजमें और सार्वजनिक जीवनमें आवें । अपरिग्रह, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, ये तीन व्रत हमें इस सिद्धान्त-रक्षामें मदद देंगे ।

प्रश्न—परमात्मा क्या है ? क्या वह निरी कल्पनाका, बुद्धिका, हृदयक स्वनिर्मित विकार नहीं है ? भयकी भावनाओपर समस्त धर्मोंका प्रारम्भ हुआ, यह बात यदि सच है तो अब सुबुद्ध मानवको पुनः उसी भयार्त आदिम ज्ञान-हीन जन्तुकी ओर मुड़ने और वैसे ही बननेका ही क्या यह परमात्म-पूजा-भाव नहीं है ?

उत्तर—परमात्मा क्या है—यह पूछते हो ? तो सुनो—जो है, परमात्म है । मैं हूँ ? तुम हो ?—तो हम दोनों जिसमें हैं वह परमात्मा है । हम दोनों जिसमें होकर दो नहीं हैं, एक हैं, वह परमात्मा है ।

नहीं, परमात्मा विकार नहीं है । उसको छोड़नेसे, हॉ, शेष सब कुछ विकार हो जाता है ।

विकार इस लिए भी नहीं है कि हमारी सारी कल्पना, हमारी सारी बुद्धि, हमारे सारे हृदयकी शक्तिद्वारा भी वह निर्मित नहीं हुआ । हम उसका निर्माण नहीं कर सकते । कल्पना, बुद्धि, हृदयद्वारा हम उसको ग्रहण ही कर सकते हैं । उसकी प्रतीतिको हम बनाते नहीं हैं, वह प्रतीति तो हमारे मन-बुद्धिपर हठात् छा जाती है ।

जो हमारे द्वारा निर्मित है वह बेशक हमसे दूसरेके लिए और हमारे कालसे दूसरे कालके लिए विकार हो जाता है ।

लेकिन ध्यान रहे कि मनुष्यों अथवा जातियोंद्वारा उनकी पूजा भाक्ति अथवा,

रहेगीं । और मुल्कोने देखते देखते अपनी अपनी भाषाओंको सर्व-सम्पन्न बना लिया है । एक बेर सोचा कि अपनी ही भाषामें अपनेको व्यक्त करेगे,—और जब राष्ट्र-भरने यह सोचा, तब राष्ट्रकी राष्ट्र-भाषाको समर्थ होनेमें देर क्या लगेगी ?

प्रश्न—हिन्दी साहित्यको पुष्ट और रुचिकर बनानेके लिए आपकी रायमें कौन-कौन से उपाय होने चाहिए ?

उत्तर—मैं तो एक ही उपाय जानता हूँ ।—यह मैं लेखककी हैसियतसे कहता हूँ, ऐडमिनिस्ट्रेटरकी हैसियतसे नहीं । और लेखककी हैसियतसे जो मैं उपाय जानता हूँ वह यह है कि छोटे संकुचित स्वार्थसे मैं बाहर निकलूँ, मेरी सहानुभूतिका क्षेत्र व्यापक हो । कर्मसे मैं विमुख न रहूँ, जो सोचूँ पूरे हृदयसे सोचूँ । अपनेको बचाऊँ नहीं, और अपने जीवनमें अपने आदर्शको उतारूँ । मेरा प्रेम मेरे साहित्यको रुचिकर बनायेगा । अपने विश्वासोके प्रति मेरी लगन और तत्परता मेरे साहित्यको पुष्टता देगी ।

इसके अतिरिक्त आपके प्रश्नपर मैं किसी दूसरी दृष्टिसे अभी यहाँ विचार नहीं करना चाहता ।

७-९-३६



कुछ पत्रोंके अंश

माई माचवेजी,

१-८-३५

पत्र मिला ।.....

मेरे बारेमें यह बात आप जान लें कि किताबोंमें मेरी पहुँच कम है । इस लिए मेरा जवाब थोड़ा और सादा ही हो सकता है ।

जीवनसे कलाको तोड़कर मैं नहीं देख पाता । सत्याभिमुख जीवनकी अभिव्यक्ति कला है । शब्दाकित अभिव्यक्ति साहित्य है ।

आप देखें, जीवनके साथ 'सत्याभिमुख' विशेषण मैंने लगाया है । अर्थात् जो हम हैं, वही हमारा जीवन नहीं है । जो होना चाहते हैं, हमारा वास्तव जीवन तो वही है । जीवन एक अभिलाषा है । जब कलाके संबंधमें 'जीवन' शब्दका उपयोग करता हूँ तब उसे आप उस चिर-अभिलाषाकी परिभाषामें ही समझें । उस अर्थमें समझनेसे जीवन और कलाका विरोध, या Parallelism उड़ जाता है ।

क्या जो होना चाहते हैं, वही हम हैं ? क्या कभी भी वैसे हो सकेंगे ? स्पष्टः, नहीं । किन्तु इसका क्या कभी भी यह मतलब है कि aspiration व्यर्थ है ? यह मतलब करना तो सारी गति और चेष्टाको मिटा देना है ।

आदर्श और व्यवहारमें अंतर है । वह अंतर एक दृष्टिसे अनंतकालतक रहेगा । उस दृष्टिसे वह अनुलंघनीय भी है । किन्तु इसीलिए तो उस अंतरको कम करना और भी अनिवार्य है । आदर्श अप्राप्य है, क्या इसीसे उसके साथ एकाकारता पानेके दायित्वसे हमारी मुक्ति हो जाती है ?

इसीसे कलाको 'कला' के ही क्षेत्रकी वस्तु न मानने देकर उसे जीवनमें उतारनेकी वस्तु कहते रहना होता है ।

जो कला वास्तवसे असम्बद्ध होकर ही जी सकती है, वास्तवके स्पर्शसे जो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो रहती है, मेरे निकट तो वह ह्रस्व-प्राण है । मैं उसे गिनतीमें नहीं लाता । कला अपने भीतर मरी श्रद्धाकी शक्तिसे 'वास्तव' को संस्कृत करनेके लिए है, उससे परास्त होनेके लिए नहीं ।

कला मात्र स्वप्न नहीं। वह वास्तवके भीतर रमी हुई वास्तविकता है, जैसे शरीरके भीतर रमी हुई आत्मा। वह अधिक वास्तव है।

जिस आदर्श-क्षेत्रको हम कलात्मक चेतनासे स्पर्श करते हैं, जिस स्वर्गकी हम इस प्रकार झोंकी पाते हैं और उसके आह्लादको व्यक्त करते हैं, क्या उस स्वर्गमें अपने इस समग्र शरीर और शारीरिक जीवनके समेत पहुँचे बिना हम तृप्त हो ? तृप्त नहीं हुआ जा सकेगा। इसीसे तमाम जीवनके जोरसे कलाको पाना और वहाँ पहुँचना होगा।

Oscar Wilde, को मैंने कुछ पढ़ा है। मैं उसे भटक गया हुआ व्यक्ति समझता हूँ। विचारकी सुलझन उसकी विशेषता नहीं।

अपनी रचनाओकी विविधतापर मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। न उनमें कोई ऐसा विरोध देखता हूँ। हाँ, विविधता तो देखता ही हूँ और सबका विविध मूल्य भी आँकता हूँ। 'एक टाइप' और 'राज-पथिक' में स्थान भेद और मूल्य-भेद तो है ही। पर मेरी अपेक्षासे तो दोनोंमें एक-सा ही सत्य है।.....

यह स्वीकार करना होगा कि मैं अपनी किन्हीं रचनाओंमें भाव-प्रवण अधिक हूँ, कहीं जीवन-समीक्षक विशेष। किन्तु कहानियोंके साथ मैं अपना सम्बन्ध चिन्तापूर्वक स्थिर नहीं करता हूँ और अपनी सभी रचनाओको मैं प्रेम करना चाहता हूँ।

मैं चाहता हूँ, छोटी और तुच्छ वस्तु मेरे लिए कहीं कुछ रहे ही नहीं। धूलके कनमें भी मैं उस परम प्रेमास्पद परम रहस्यको क्यों न देख लेना चाहूँ जिसे 'परमात्मा' कहते हैं। और वह परमात्मा कहाँ नहीं है ? आज कीचड़में ही उसे देखना होगा। यही आस्तिकताकी कसौटी है। मूर्तिमें तो अल्पश्रद्धावान् भी देख पाता है।

कलाकार उसी अपरिमेय श्रद्धाका प्रार्थी है और तब कहीं उसके हाथ Soiled हो सकते हैं। वह तो सब जगह अपूर्व महिमाके दर्शन कर और करा सकता है। यदि मैं खादकी उपयोगिताके सम्बन्धमें कुछ अपना मौलिक उपयोगी अनुभव लोगोको बता सकूँ तो यह मैं साहित्यिक जैनेन्द्रके लिए कलंककी बात नहीं समझूँगा, प्रत्युत श्रेयकी बात ही समझूँगा।

हम क्यों कलाको छुई-मुई-सी वस्तु, hot house product, बनावें। वह

कुछ पत्रोंके अंश

शीशेमें बन्द प्रदर्शनकी वस्तु ही बनकर रहनेवाली क्यों बने, वह क्यों न महाप्राण-वान्, सर्वथा अरक्षित, खुली दुनियामें अपने ही बलपर प्रतिष्ठित बनी खड़ी हो ?

मेरी कल्पना है कि ऊपरके वाक्योंमें आपको अपने प्रश्नके सम्बन्धमें मेरी स्थितिका कुछ आभास प्राप्त होगा ।.....

× × × ×

ता० २५-९-३५

....मुझे अपने कथनोंमें विरोध नहीं दीखता । अन्य विचारकोंके वाक्य जो आपने लिखे हैं, उनके साथ भी मेरी स्थितिका अविरोध बैठ सकता है । हमको मान लेना चाहिए कि जो शब्दोंमें आता है, सत्य उससे परे रह जाता है । उसकी ओर संकेत कर सकें, यही बस है । वह भला कहीं परिभाषामें बँधनेवाला है ! इससे लोगोके भिन्न भिन्न वक्तव्योंका भाव लेना चाहिए । मैं जिसे 'सत्य' शब्दसे बूझता हूँ, उसमें तो सत्ता मात्र समाई है । जगतका झूठ-सच सब उसमें है । 'वास्तव' से मेरा अभिप्राय लौकिक सत्यसे है जिसको भरनेके लिए सदा ही 'असत्य' की आवश्यकता होती है । जीवनमें तो द्वंद्व है ही, किन्तु लक्ष्य तो निर्द्वंद्वता है । जीवन विकासशील है । क्या कला जीवनसे अनपेक्ष्य ही रह सके ? ऐसी कला तो दंभको पोषण दे सकती है ।...

× × × ×

ता० २१-११-३५

.....मैं लिखना न छोड़ूँ, हो जो हो,—यह आप कहते हैं । आप ठीक हैं । लेकिन मैं अपने लिखनेको वैसा महत्त्व नहीं दे पाता । मैं नहीं लिखता, इससे साहित्यकी क्षति होती है, यह चिन्ता मुझे लगाये भी नहीं लगती । जब मुझमें वह भाव नहीं है, तब उसे ओढ़ूँ क्यों ? मैं उसे अपने ऊपर ओढ़कर बैठना नहीं चाहता । साहित्यिक विशिष्ट व्यक्ति मैं अपनेको एक क्षणके लिए भी नहीं समझना चाहता । ऐसा समझना अनिष्ट है । ऐसी समझ, मैं देख रहा हूँ, बहुत अंशमें आज हिन्दीके साहित्यको हीन बनाये हुए है । मानों जो साहित्यिक है उसे कम आदमी होनेका अधिकार हो जाता है, अथवा कि वह उसी कारण अधिक आदमी है ! इसलिए मैं उस तरहकी बातको अपने भीतर प्रश्रय देना

नहीं चाहता । पर, मैं तो देखता हूँ, मुझे अपने ही कारण लिखना नहीं छोड़ना है । क्योंकि जब साहित्यका जिम्मा मेरे ऊपर नहीं है तब मेरी अपनी मुक्ति तो मेरा अपना ही काम है । और कब आत्मव्यक्तीकरण मुक्तिकी राहमें नहीं है !

' X X X X

ता० ३१-८-३६

... 'राम-कथा' जैसी चीज़ें मैं लिखना विचारता हूँ । लेकिन देखता हूँ कि मेरी राह जैसी चाहिए खुली नहीं है । मैं सोचा करता हूँ कि जब मेरे साथ यह हाल है, तब नवीन लेखकोकी कठिनाइयोंका तो क्या पूछना । मैं तो अब पुराना, स्वीकृत भी हो चला हूँ । जो नये हैं, उनके हाथों नवीनता तो और भी कठिनाईसे वे लोग स्वीकार करेंगे ।.....

कठिनाइयों जीवनका Salt हैं पर उनको लेकर व्यक्तिमें complexes पैदा होने लगते हैं । वही गड़बड़ है । उनसे बचना ।.....

अब तुम्हारे सवाल, जो कभी शांत न होंगे । सवाल है ही इसलिए नहीं कि वह शांत होकर सो जाय । वह सिर्फ इसलिए है कि अगले सवालको जन्म दे । यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए । वह दंभी नहीं तो मूढ़ है जो जताता है कि उसका प्रश्न हल हो गया । वह मुक्तावस्था है और मुक्तावस्था आदर्श है, अर्थात् वह एक ही साथ तर्कका आदि है और अंत है । तर्कके मध्यमे, और जीवनके मध्यमें, आदर्श-स्थितिका स्थान नहीं समझना चाहिए । इसलिए सवालका समाधान नहीं है, मात्र परिणति है । बाहरसे उसका मुख भीतरकी ओर फेरनेसे ऐसा परिणमन सहल होता है । इसलिए यह तो सिद्धान्त रूपसे मान लो कि सवालको फिर भीतरकी ओर मुड़ना होगा और हरेक उत्तर अपने आपमें स्वयं अन्ततः प्रश्नापेक्षी हो रहेगा । प्रश्नोत्तरद्वारा वस्तुतः हम परस्परको ही पावें; अधिककी अपेक्षा न रखें ।

कला हेतु-प्रधान होती है कि हेतु-शून्य ?

मैं कहूँगा कि कलाकर अपनेमें देखे तो कला हेतु-प्रधान क्यों, हेतुमय होती है । कलाकृतिके मूलमें मात्र न रहकर उसका हेतु तो उस कृतिके शरीरके साथ अभिन्न रहता है । वह अणु-अणुमें व्याप्त है । कलाकारकी दृष्टिसे कभी कला हेतु हीन (अर्थात्, नियमहीन, प्रभावहीन) हो सकती है ? और वह तो हेतु-प्राण है । कलाकारके अस्तित्वका हेतु ही उसकी कलामे ध्वनित, चित्रित होता है ।

कुछ पत्रोंके अंश

लेकिन बाहरकी दृष्टिसे मैं उसे सहेतुक कैसे मानूँ ? इस भाँति उसे सहेतुक मानना कलाकृति और कलाकारके बीचमें खाई खोदना जैसा है। मनुष्य और उसका धंधा, ये दो हो सकते हैं। पर मनुष्य और उसकी मनुष्यता (यानी, उसकी भावनाएँ) दो नहीं हैं। उसका व्यवसाय मनुष्यके साथ प्रयोजन-जन्य, मनुष्यता उसके साथ प्रकृति-गत है।

जहाँ मानव अपनी घनिष्ठतामें, अपनी निजतामें, प्रकाशित है, वहाँ उतनी ही कला है। जहाँ अपनेसे अलग रखले हुए हेतुओंकी राहसे वह चलता है, और हेतुओंके निर्देशपर रचता है, वहाँ उतनी ही कम कला है।

कलामें आत्म-दान है।

आत्मदान सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ी नीति है, सबसे बड़ा उपकार है, और सबसे बड़ा सुधार है। अतः कला सुधार, उपकार, नीति और धर्म, सबसे अविरोध है और सबसे अपरिविध है। इस प्रकार कला सत्यकी साधनाका रूप है। वह परम श्रेय है।

कला तो निःश्रेयसकी साधिका ही है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वह भ्रात है। यह कहिए कि वहाँ कला ही नहीं है।

बात यह है कि मानवका ज्ञान अपने संबंधमें बेहद अधूरा है। वह अपनी ही भीतरी प्रेरणाओंको नहीं जानता। यह सही नहीं है कि वह प्रयोजनको ही सामने रखकर चलता या चल सकता है। हेतु उसके भीतर संविलिष्ट है, inherent है। जिसको अहं विकृतज्ञानमें हेतु मान उठता है, उसके प्रति वह सकाम होता है। वह, इस तरह, हेतु होता ही नहीं। मनमानी लोगोंकी गरजें उनके जीवनोकी वास्तव हेतु नहीं हैं। इस दृष्टिसे हेतुवाद एक बड़ा भारी मायाजाल है। जो जितना महत्पुरुष है वह उतनी ही दृढता और स्पष्टतासे जानता है कि व्यक्तिगत कारणसे कोई बड़ा ही कारण उसे चला रहा है। इतिहासके सब महापुरुष इसके साक्षी हैं। और मैं कहता हूँ कि इस व्यक्तिगत हेतुकी भावनासे ऊपर उठनेपर ही सच्चे जीवनका आरंभ और सच्ची कलाका सृजन होता है। हेतुवादी वह संसारी है जो सासारिकतासे ऊँचा उठना नहीं चाहता।

(और तुम पूछते हो कि) अगर कला Self-expression ही है तो फिर जीवनेसे उसका दायित्व क्या है ?

मैं तो आज कलाको Self-expression की परिभाषामें ही समझनेकी इजाजत देना चाहता हूँ। यद्यपि इसमें (समझनेमें) खतरा है फिर भी उसी प्रकारकी परिभाषा यथार्थताके अधिक निकट और अंततः अधिक उपयोगी है।

पर, फिर भी वह तनिक भी उच्छृंखल नहीं और अधिकसे अधिक दायित्वशील है। वह इसलिए कि जो हमारा भीतरी Self असली Self है वह बाहरी जगतके साथ अभेदात्मक है। हम असलमें विश्वके साथ एकात्म हैं। जितना अपनेको पायेंगे उतना ही, अनिवार्य और सहज रूपमें, विश्वको पायेंगे। इसलिए प्रत्येकका Self-expression, अगर वह अपने साथ सच्चा और जागरूक है, तो प्रेमात्मक ही हो सकता है, विद्वेषात्मक तो हो सकता ही नहीं। साधनामें जो आत्म-वंचना कर जाता है उसकी बात तो मैं करूँ क्या,—पर साधक व्यक्तिका Self-expression कभी अहितकर नहीं हो सकता, और आर्टिस्ट साधक है। असलमें साधक अनुभव करता है कि वासनाओंमें उसका सच्चा 'स्व' ही नहीं है और वह वासना-रसको अनायास छोड़ता चलता है। वह अतिसहज भावसे दायित्वशीलताकी ओर बढ़ता है और साथ ही विनम्रताकी ओर बढ़ता है। इस भाँति साधक आर्टिस्टके लिए जरूरी हो जाता है कि वह इस बाहरकी कसौटीपर अपनी साधनाको कसता भी रहे—कि वह उच्छृंखल, अविनयशील, अहंमन्य तो नहीं हो रहा है। रोगकी जड़ अहंमन्यता है और आर्टिस्ट अहंमन्यताका खोखलापन आरम्भसे ही देखता है।

कला बुद्धिप्रधान हो कि भावप्रधान ?

बलासे, कुछ भी हो। व्यक्तित्वमें बुद्धिका खाना कहाँ है और भावका कहाँ ? और जहाँ अपनी आत्माका ही दान है वहाँ बुद्धि अथवा भावको बच निकलनेकी जगह कहाँ है ?

और इन प्रश्नोंको लेकर क्या कहूँ ? कितना भी कहते जाओ तत्त्व उतना ही गहन रहता है। सत्यकी पुकार तो है कि आदमी सब नाते, सब बन्धन, तोड़ छूट पड़े।—तब कुछ समझ मिले तो मिल भी सकती है। अन्यथा सब वृथा है।

अपनी जिंदगीके बारेमें क्या कहूँ ? क्या कुछ उसमें कहने लायक है ? अभी तो मुझे कुछ पता नहीं।.....

मैथिलीशरणजीको मैं क्या मानता हूँ ? हिन्दी कवियोंमें आज मैं समझो उन्हींको मान पाता हूँ। श्रद्धाके नाते उन्हें ही, समझके नाते यों औरोंकी भी मान लेता हूँ।

×

×

×

×

कुछ पत्रोंके अंश

१९-९-३६

(...प्रोफेसरोका अविश्वास मैं समझ सकता हूँ। पर दिलसे अहंकार निकाल डालनेका तरीका ही यह है कि उसे हथेलीपर ले लिया जाय। जिसे निन्दासे डरना नहीं है, वह प्रशंसासे डरे ? जो अपवादपर झुल्लते हैं, वे ही पर्याप्तसे अधिक संकुचित हो सकते हैं। पर वे दोनो एक रोग हैं—भीति और लालसा।...

ता० १९-२-३७

...जिसके प्रति मनमें प्रशंसा न हो उसके प्रति conscious झुकाव रखना सच्ची नीति है। 'नीति'का मतलब पालिसी नहीं, कर्तव्य भी मैं लेता हूँ। क्योंकि आखिर तो आलोचनाकी जड़में अज्ञान ही है। इसीसे जवाहरलालजीकी आलोचना वैसी लिखी गई जैसी लिखी गई।...

...शरद समाजके प्रति निर्मम है, पर व्यक्तिके प्रति निर्मम क्यों न हुआ जा सके ? सच्ची निर्ममता मैं तो उसे जानूँ जो समाजके लिए व्यक्तिको तजे, समाजको शानके लिए, शानको तथ्यके लिए, और इस प्रकार अपने सब कुछको अखंड-सत्यके लिए।

'अश्रुमती गौतम' क्यों भाई ! सीधी बात है कि भाई इससे भाई। उसमें tendency मेरे मनकी है। लेकिन एक बात है। आत्म-त्याग एक वस्तु है, आत्म-त्यागकी भावना बिल्कुल दूसरी वस्तु। जहाँ यह भावना प्रधान है वहाँ आदर्श-‘वाद’ है। और ध्यान रखना चाहिए कि आदर्श-‘वाद’ भी और बादोंकी तरह थोथा होता है। ‘वाद’ नहीं चाहिए, स्वयं आदर्श चाहिए। आत्म-त्यागको एक doctrine एक Dogma बनाकर व्यक्ति सचमुच स्वार्थी होनेमें मदद पाता है। तुम्हारी ‘अश्रुमती गौतम,’ मुझे प्रतीत होता है, आदर्शकी अपनी ‘धारणा’से चिपटी रही। आदर्शको ही पकड़ती तो उससे चिपट नहीं पाती। क्योंकि आदर्श, जितने बढ़ते हो, उतना ही स्वयं बढ़ते जाता है। इसलिए आदर्शकी ओर यात्रा करनेवाला व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, उसका स्वभाव खुलता ही जाता है। जब कि आदर्श-‘वादी’ व्यक्ति अपने ‘स्व’के धरेको और मजबूत ही बनाता है। पर जैसे ‘अ-रूप’की आराधना नहीं होती, आराधना स्वयं अ-रूपको स्वरूप दे देती है, वैसे ही जाने-अनजाने

बुद्धि वादानुगामिनी होती है। और अश्रुमती, मुझे बहुत खुशी है, किसी doctrine की नहीं, एक idea (गौतम-idea) की अनुगामिनी है। Idea संप्राण वस्तु है। उसकी रेखाएँ बँधी नहीं हैं इसीसे।

X X X X

भाई द्रविडजी,

उपन्यासके बारेमें मेरी जो वृत्ति है वह वैज्ञानिक शायद न हो। पर मुझे तो वही उपलब्ध है। उसमें जिसे Characterization कहा जाता है, उसे लगभग बिल्कुल भी स्थान नहीं है। मुझे उस शब्दके भावका पता नहीं मिला। इससे पात्रको सागोपाग करनेकी ओर मेरा ध्यान नहीं जाता। क्या एक पात्र अपने आपमें कुछ भी चीज़ है? असली चीज़ मेरी निगाहमें पात्रोंका पारस्परिक संबंध है, न कि पात्र स्वयं। relationship। मुझे विचारणीय बात मालूम पड़ती है, न कि persons। इससे सुबोधपर मैं अटकता नहीं। आपके सुझानेपर भी उसकी एकागिता मुझे खटकती नहीं। व्यक्ति क्या एकागीके अतिरिक्त सर्व-संपूर्ण हो भी सकता है? असलमें सुबोधका व्यक्तित्व (अथवा कि किसी भी एकका व्यक्तित्व) खींच उठाना मेरा लक्ष्य नहीं है। अमुकके relations में किसी एकके relations क्या हैं, इसे दिखाते दिखाते यदि मैं कहीं भी आत्माके गहरे तलको जा छूता हूँ तो यही मेरे लिए बहुत है। उपन्यासकारके नाते, इससे अधिक मेरा इष्ट भी नहीं है। असलमें मैं पक्का उपन्यासकार नहीं हूँ। शायद कुछ whims हो जिन्हें छोड़ना नहीं चाहता। कहा जा सकता है कि लिखता हूँ तो उन whims को ही निबाहने और पुष्ट करनेके लिए।

.....आपकी बात ठीक है। जीवनको जीते और बँटते चलना चाहिए। इसी राहमें बहुत-कुछ आ जाता है।

सस्नेह—जैनेन्द्र

X X X X

भाई द्रविडजी, २-९-३७

प्रश्नके बारेमें यही कि अज्ञेयकी स्थितिमें मैं थोड़ा सुधार सुझाना चाहूँगा।
उनका वाक्य है—

“ The creation of an artist always arises from a state of unbalance.....Etc. ”

यह वाक्य यों हो—

“ An artist rises from the state of.....Etc. ”

सुधारके पक्षमें यह कारण उपास्थित है—

“That the state of unbalance, itself, is not creative.

पर नहीं। ऊपरका लिखना व्यर्थ है। उसे कदा समझिए। अब मैं समझा कि मैं गलत समझा। प्रश्न आर्टिस्टका नहीं, आर्टिस्टके creations का है। पहले मैंने जाना कि artist के creation (जन्म) का सवाल है। खैर।

अब स्थितिको मैं थूँ समझता हूँ। कोइलेसे आग होती है। वह (आग) सदा कोइलेसे (लकड़ी आदिसे) होती है,—यह भी कह दीजिए। दोनोंमें झूठ बात कोई नहीं है। लेकिन यह कहनेसे आगकी प्रकृतिपर प्रकाश पड़ता है, सो नहीं। कोइला मलिन हो, आग सदा उज्ज्वल है।

आर्टिस्टका unbalance एक प्रकारका conditional antecedent है। पर आग जैसे कोइलेको क्षार कर देती है, वैसे ही creation unbalanceको मिटानेके लिए है। कोइला तो पत्थर है,—दियासलाई उसमें आग दिखाती है। creation के मामलेमें वह दियासलाई है क्या? जो रवीन्द्रनाथने कहा वह उस creationकी आगमें दियासलाई-वाला तत्त्व समझा जाय। unbalance उसमें कोइला-रूपक तत्त्व है।.....

.....Unbalance is inherent, is implicit. No man is in perfect harmony, can ever be in complete unision, with his environs. All experience unbalance. But everybody is not an artist. So, unbalance does not lead to creation direct. It cannot. It is a principle of disintegration. What it does is to stimulate our senses and sharpen our seeking. It makes us miss balance and be acutely conscious of the want of it. It is only thus that it helps creation. It is Faith, working through doubt,

which creates. Doubts necessitate faith which, when born, devours all of them and nourishes and flourishes on them. We ought not to confuse them both, though ever they are to be found close to each other.

Creation rises out of unbalance with a sure poise of balance and grace.....

रवीन्द्रबाबूका कथन ठीक दिशामें है, यद्यपि उसमें content विशेष नहीं है।

मेरी निजकी स्थिति ऊपरके वाक्योंमें कुछ आ जाती है। असलमें इन मामलोंमें objective approach से बचना चाहिए।

सस्नेह—जैनेन्द्र

टिप्पणियं

१ साहित्य क्या है ?

इस लेखमें, साहित्यकी सृष्टिके मूलकी मनोविज्ञानिक आवश्यकता बताकर, साहित्यके स्वरूपको समझाया गया है। साहित्यके आरम्भका मूल तत्त्व है 'स्व' की विश्वके साथ अभेद अनुभूति। 'अपने स्वयंका अतिक्रमण कर,' आत्म-समर्पणका पाठ शेष विश्वसे सीखकर, तथा अपने क्षुद्रत्वकी अनुभूतिसे त्रस्त होकर विराटताकी अनुभूति जगानेकी जो व्यग्रता मनुष्यमें है, उसीसे साहित्य उत्पन्न हुआ है। अतः साहित्य, और कुछ नहीं, इसी सत्योन्मुख प्रगतिशीलता और अनुभूतिशीलताकी अभिव्यक्ति है।

लेखक मानव-जीवनकी संभावना द्वित्वसे निर्मित विग्रह, संघर्ष और पुनः समझौतेमें मानता है। वैज्ञानिक डार्विन इसीको परिस्थितिके अनुरूप बननेका (adaptation) उत्क्रान्ति-तत्त्व मानता है। मानव-जीवनकी इसी कर्म-शीलताको आत्मिक भूमिपर देखें तो, एककी अनेकमें और फिर उन अनेकोकी भा किसी विराट् एकमें मिल जानेकी जो चाह है उसे ही साहित्यकी प्रेरणा मानना होगा। अतः साहित्य जीवनकी प्रथमयताका समाधान है,—जीवनका अभेदोन्मुख कर्म है।

लेखककी भूमिकासे दो बातोंका पता चलता है। एक सजीव सुसुक्ष्मवृत्तिका जो ब्रह्मसूत्रकारके 'अथातो जिज्ञासा' की तरह है। हर वस्तुको जाननेसे पहले 'क्यों?' 'क्या?' 'किसलिए?' आदि प्रश्नोंका मनमें स्वभावतः उठना अपेक्षित है। दूसरी बात है विचार-स्वातंत्र्यमें अटूट विश्वास जिसके लिए रोम्यों रोला महाशय उत्सुक रहते हैं। लेखक विचारोंको किसी भी प्रकार परिवद्ध या जड़वादी बना हुआ नहीं देखना चाहता। उनके मतमें विचार-नैश्चित्य बुरा नहीं है पर विचारका स्थिर होकर बँध रहना तो उसके जीवनके लिए बाधक है।

साहित्यकी अनेक परिभाषाओंमेंसे जैनेन्द्रकी परिभाषाके साथ दो परिभाषायें तोलनीय हैं और वे यहाँ दी जाती हैं—'साहित्य जीवनकी समीक्षा है,' (—मैथ्यू आरनाल्ड) मनुष्य जातिकी संचित ज्ञान-राशिका कोष साहित्य है,' (—आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी)।

मनुष्यकी बुद्धिके साथ अहंकारके जागरणकी कथा सांख्यदर्शनमें बहुत अच्छी तरह रूपकद्वारा व्यक्त की गई है। सांख्यके अनुसार मुक्त पुरुष शुद्ध

साहित्य-परिषदमें जैनेन्द्रजीने जो भाषण दिया था, उसके ये कुछ अंश हैं।
प्रेसमें बराबर रिपोर्ट न छपनेसे इन दो पृष्ठोंमें कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं।

इस भाषणमें बतलाया गया है कि साहित्यिकका पंडित होना आवश्यक बात नहीं है। क्या जाने वह उचित भी न हो। हिन्दीके कई संत-कवियोंको लिखना-पढ़ना बिल्कुल नहीं आता था। कबीर और सूर संप्रदायके सभी कवि ऐसे थे जो भजन रचते और गाते थे। वे कविता 'लिखा' नहीं करते थे, 'कहा' करते थे।

'Poets open new windows in the soul' (=कवि आत्मामें नये वातायन खोल देते हैं) सैम्युएल बटलरकी यह उक्ति इसी संदर्भमें पढ़ी जाय। साथ ही 'हिन्दीमें सजीव साहित्यकी आवश्यकता' शीर्षक श्री 'अशेष'की अपील ('विशाल भारत') और जैनेन्द्रका उसपर नोट भी पढ़ा जाय।

८ लेखकके प्रति

यह संदेश बच्चोंके पत्र 'पीयूष' के लिए लिखा गया था।

९ संपादकके प्रति

इस चिठीकी विचार-प्रवर्तकता और 'स्याद्वाद'मय तर्क-पद्धति महत्वपूर्ण है।
('विद्या' में प्रकाशित)

१० आलोचकके प्रति

मैं इसे जैनेन्द्रजीके सर्वोत्तम लेखोंमें गिनता हूँ। यह बहुत सुलझी हुई और क्रमबद्ध सफाई है। उनके 'सुनीता' उपन्यासपर भिन्न भिन्न व्यक्तियोंद्वारा जो तरह तरहकी आलोचनायें हुई थीं उनको, संक्षेपमें, उनके सापेक्ष महत्त्वानुसार उत्तर देनेका प्रयत्न किया गया है।

बुद्धिद्वारा जीवनके आह्लादको ग्रहण करनेकी जो मानवी क्षमता है वह, जहाँ मनुष्य मुमुक्षु न रहकर वादी और ज्ञानाग्रही होने लगता है, वहीं कम हो जाती है। इसीको लेखक जैनेन्द्रजीने अपने सामने रक्खा है। बौद्धोंकी तरह स्वामी रामने एक जगह कहा है—whosoever grasps loses. यही तत्त्व इस पुस्तकसे झलक रहा है। इस लेखकी तीसरी बात ज्ञानकी अपेक्षा-कृति (=Relativity) है।

रविबाबूकी 'घरे बाहिरे' और 'सुनीता' का जो संतुलन जैनेन्द्रजीने

किया है उससे पाठक सब अंशोंमें सहमत न भी हो सकें, तो भी, उपन्यासकारसे क्या अभीप्सित है इस बारेमें पाठकको उनसे मत-भेद नहीं हो सकता ।

ऑस्कर वाइल्डने झूठसे आतंकित करनेके मोहमें अपने 'मृषाका हास' (Decay of Lying) नामक निबंधमें कहा है—'यदि उपन्यासकार समझता है कि उसके पात्र जीवनसे लिये गये हैं तो यह गर्वकी नहीं प्रत्युत शर्मकी बात है।' रवीन्द्रनाथने अपने 'साहित्य' नामक निबन्ध-संग्रहके 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक लेखमें सत्य और कल्पनाका कहीं तक मिश्रण उपयुक्त है, इसपर चर्चा की है। यह सब पृ० ५७ के साथ साथ पढ़ा जाय।

जहाँ 'क्या लिखूँ ?' समस्याका जिज्ञास है, वहाँ विलियम जेम्सकं मनोविज्ञान-शास्त्रमें 'स्व-पर-समस्या' नामक अध्यायका आरम्भ याद आता है। साथ ही यह कहना होगा कि जैनेन्द्रजीका विज्ञानको पूर्णतः ऑब्जेक्टिव माननेका दावा सब वैज्ञानिकोंके लिए न्यायोचित नहीं है।

एक जगह 'माया' का प्रयोग आया है। शंकरके समान जर्मन दार्शनिक फिच्टेने भी यही कहा था कि 'ससीमका अससीमानुबोध सदैव सीमाबद्ध ही होगा, क्योंकि ज्ञान हमारी सीमा है।' वैसे ही जैनेन्द्रजीसे कहा जा सकता है कि श्रद्धा भी हमारी उसी प्रकारकी सीमा हो सकती है। परंतु वे निष्ठाको छद्म नहीं समझते, क्योंकि उनके मतमें वह हार्दिक निर्भ्रान्तितापर निर्भर है।

अन्तमें आलोचकके लिए दी हुई नर्म नसीहत बड़ी उपयोगी वस्तु है।
('हंस' में प्रकाशित)

११ जीवन और साहित्य

२१ मार्च १९३६ की सायंकालको लाहोरमें राष्ट्रभाषा-प्रचारक संघके अन्तर्गत लाजपतराय हालमें दिया गया भाषण ।

'सत्य अन्तिम नहीं है' (पृ० ६५) । लेनिनने भी एक जगह कहा है—'Nothing is final' । यहाँ जैनेन्द्र जो सदा जीवन और साहित्यका लक्ष्य सत्योन्मुखता बताते हैं, वे उसको 'अन्तिम नहीं' कहकर विरोधाभासमें उतरते जान पड़ते हैं। परन्तु उनका मूल-तत्त्व 'सत्य अपेक्षाकृत है,' यह समझने-पर विरोधाभास नहीं रहता ।

सुकरातके संबंधमें यूनानकी एक जोगिनने कह दिया था कि वही यूनानका

प्रथम मूल-वृत्ति माना है और जो डरसे डरनेका प्रयत्न करते हैं वे निश्चय डरसे बचना चाहते हैं ।

(पृ० २१८) श्रद्धाका अर्थ अंध मोह नहीं है । विशुद्ध श्रद्धा निर्भीक होती है । ऐसे ही मीरा कहती थी ' संतन ढिग बैठ बैठ, लोकलाज खोई...। '

मौतके संबन्धमें ' चढा मन्सूर शूलीपर पुकारा इश्कबाजोको, यहाँ जिस जिसमें हिम्मत हो वही खम ठोककर आये ' किंवा रवीन्द्रनाथका ' मरण जे दिन आसे दुवारे, की दिब उहारे ' या कबीरका ' मरण रे तुहुं मम श्याम समान ' अथवा उमर खय्यामका फरार्शि-अज़लका रूपक, या मैथिलीशरणजीकी ' यशोधरा ' का ' मरण सुंदर बन आया री, शरण मेरे मन भाया री ' या श्रीमती महादेवी वर्माका ' ओ जीवनके अंतिम पाहुन ' या ' एक भारतीय आत्मा ' का ' अरी ओ दो जीवनकी मेल ' आदि याद हो आते हैं ।

' वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ' गीताके इसी अमर संदेशको हँसते हँसते कहते हुए कन्हाई दत्तका वज़न फाँसीके तख्तेपर बढ गया था । यह सब श्रद्धाका फल है । लेखके अन्तमें मेरे द्वारा पूछा हुआ प्रश्न लेखके दृष्टिकोणको और भी स्पष्ट कर देता है । (' हस ' मे प्र०)

२३ प्रगति क्या ?

लखनऊमें कांग्रेसके साथ साथ ' प्रोग्रेसिव राईटर्स ' या प्रगतिशील-लेखक संघकी ओरसे एक जलसा हुआ था । उसके द्वारा प्रगतिशीलताके संबंधमें जो गलत धारणायें हम अपने राष्ट्र-जीवनमें पोस रहे हैं उनका विरोध जैनेन्द्रने अपने भाषणमें किया था । वही विचार यहाँ लिखित हैं ।

(पृ० २२५) बोज़ान्क्वे जैसे आधुनिक आदर्श-वादी तार्किक (=Idealistic Logicians) 'न' कारका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते ।

कैटने देश और कालको मनुष्यकी बौद्धिक इयत्तायें, शर्तें या (categories of understanding) माना था जिनसे परिज्ञान-सामग्री छन कर आती है और भाव-रूप पकड़ती जाती है । हमारा ज्ञान देश-काल-सीमाओंसे स्वतंत्र नहीं है । किन्तु इसीसे हमें अपनेको स्वतंत्र सत्ताधिकारी नहीं मानना चाहिए, जैनेन्द्रका यह तर्क ' कॉम्प्ट ' जैसे स्वीकारवादी (=Positivist) और ' ह्यूम ' जैसे शंकावादीने नहीं माना था । पर वह कथा बारीक है और बहुत है । विशेष

जिज्ञासु ए० अलेक्जेंडरकी 'Time, Space and Deity' (काल, आकाश और देवता) पुस्तक पढ़ें।

देश-कालके माप-दंडोंसे अलिप्त, मात्र आकाशकी, अलग कोई शून्य-सत्ता है, ऐसा बौद्ध मानते थे। परंतु सामान्य मनुष्य न यह समझ पाता है न प्रतीत कर सकता है।

डायोनिसेस नामक ग्रीक दार्शनिक जीवनमें ऊब कर एक पीपेके अंदर औंधा मुँह करके बैठता था। वैसे ही ग्रीक-दर्शनमें दो विचार धाराये चली थीं। एक ओर परमेनाईडस और उसके शिष्य थे जो कहते थे “सब स्थिर है, सब स्थिर है।” दूसरी तरफ हेराक्लाईटसके शिष्य थे जो कहते थे “सब परिवर्तन-शील है, सब परिवर्तनशील है।” ऐसे ही ‘गतिके शिकार’ यानी गत्यध बौद्धोंमें शून्यवादी भी थे जो कहते थे, ‘क्षणिकम्, क्षणिकम्, सर्वम् क्षणिकम्’।

(पृ० २२९) कार्ल मार्क्सने हेगेलके ‘डायलेक्टिक्स’ शब्दमें ऐतिहासिक-विशेषण जोड़कर अपना एक नया ऐतिहासिक भौतिकवाद (=Historical materialism) पैदा किया था। जैनेन्द्र उसके विरुद्ध एक अभौतिक किंतु चिर-प्रस्तुत ऐतिहासिक श्रृंखलाको लक्षित कर रहे हैं।

(पृ० २३०) गणितके उदाहरणसे ग्रीक स्थिरतावादी दार्शनिक ‘ज़ीनो’ के बहुत विचित्र तर्ककी याद आ गई। वह कहता है कि, ‘समक्षिप, कोई तीर यहाँसे फेंका गया। वह प्रत्येक क्षण देशके प्रत्येक अणुमें स्थिर रहेगा,—यह खंडशः देखनेसे पता चलता है; इसलिए, तीर चलता ही नहीं।’ ‘गति भ्रम है,’ इस तत्त्वपर ज़ीनो अपने गलत एकान्तवादकी वजहसे पहुँचा था।

साराश, प्रगति-विचारमें जैनेन्द्र, नकारात्मक पद्धति, एकान्तवाद तथा अतीतको भुला देनेकी नीति गलत समझते हैं। (‘हंस’में प्र०)

२४ मानवका सत्य

इस लेखसे श्रीसुमित्रानंदन पंतकी सर्वोत्तम कविता ‘परिवर्तन’ की याद आ जाती है। टेनीसनकी पंक्ति Men may come and men may go, but I go on for ever और शेलीकी ‘बादल’ (‘cloud’) कवितामें ‘I change, but never die’ का भी भावार्थ इसी प्रकार है। मनोविज्ञानने भी मनकी दो मूल वृत्तियाँ मानी हैं; एक संग्राहक, दूसरी रचना-शील। संग्राहक वृत्तियोंका संचय जहाँ विद्यमान् चेतनाके तल-पृष्ठमें गया कि वह मिटता हुआ जान पड़ता है। पर वास्तवमें मिटता कुछ भी नहीं।

वेदनाके साथ एकालम्	१९	शाम्भत	२३९
वैषम्य	३७	शासन-शक्तिना आतंक	७६
व्यक्त और अव्यक्त	१६५	शांति-प्रस्थापन	७४
व्यक्तरूप	२८४	शिल्प-कौशलकी विद्वत्ता	२६२
व्यक्ति और समाज	२७४	शिवा बावनी	२७१
व्यक्ति और समष्टि	२००	शोषण	७७
व्यक्तिकी अद्वितीयता	४९	शंकासे मुक्ति	२१५
व्यक्ति मूल	१५८	श्रद्धा	२१८
व्यक्तित्व	२१८	श्रद्धा, गंधी—	२१७
व्यक्तित्व और व्यक्ति	११८	श्रद्धाका माध्यम	१४५
व्यक्तित्व, शून्य—	१४	श्रद्धोपेत बुद्धि	२२१
व्यक्तित्व, स—	१४	श्रद्धाशून्य, संदेहग्रस्त	२३
व्यथा विसर्जन	८२	श्रद्धा खेदका बल	७३
व्यवसायशीलता	१५	श्रद्धाहीन बुद्धि, बंध्या और लँगड़ी	३८, २१९
व्यवसायशीलता, सच्ची—	१९५	श्रुति-स्मृति	२६३
व्यय और प्रतिफल	१९३	स	
व्यय और प्राप्ति	१९२	सच्चिदानंद	२८४
व्यय और श्रम	१९३	सत्	२४७
व्यवहारवादिता	२६	सत्-असत्	४८
व्याकरणकी चिन्ता	९८	सत्, निरपेक्ष—कामना	१७
व्यापार	१३२	सत् शक्ति	१३
व्यापार शोषण है	१६८	सत्य	२२
वृत्तियों, रसग्राही—	५२	सत्य, अखंड—	२९७
वृत्तियों, रेफाइंड (Rarified)	५४	सत्य अभेदात्मक है	३९
वाइसराय	१३६	सत्य—आग्रह	२९
श		सत्य और वास्तव	२९३
शक्तिपूजा	८४	सत्य अंतिम नहीं है	६५
शब्दज्ञान	६९	सत्यकी प्रतिष्ठा	१७
शब्दकी कीमत	२४५	सत्यचर्या	३५
शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय	१०१, २९७	सत्य चेष्टा	४
शरीरकी रुकावट, सत्यज्ञान मार्गमें	१०६	सत्य धर्म	२८४
, शहीद	२७५	सत्य पूजा	२४

